निष्काम कर्म

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(‘बड़ी गहन गति होती है कर्म की। इस गहन गति को जान लिया जिसने उसने छुटकारा पा लिया भव–बन्धन से। श्रद्धेय गुरुदेवजी इसी मर्म को सप्रमाण समझाने का प्रयास कर रहे हैं अपने इस लेख में।

निष्काम–भाव से कर्मयोग की प्रवृत्ति बना लेना ही भव–बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है, यही सार है गुरुवर के इस लेख का जिसे ‘सिद्धयोग’ के पाठकों को हृदयङ्गम करना है।)

— सं. सम्पादक

मनुष्य के जीवन में कर्म–बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्मफल भोगते हुए जिन–जिन प्राणियों का मेल–मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये–नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल–भोग के लिए यहाँ बार–बार जन्म लेना पड़ता है तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति प्यार, रागद्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार–बार जन्म लेता और बार–बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है :—

कुवन्नैवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात्— मनुश्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म–जाल से ऊपर उठ जायेगा। और कर्म फलभोग के लिए उससे लिपायमान नहीं होगा।

प्रकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म–बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार–बार आज्ञा प्रदान की है। भगवान का कथन है—

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

अर्थात्— हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि–मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽयत्र मोहिताः।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात।।
कर्मण्यो ह्यपि बौद्धव्यम् बौद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मश्च बौद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः।।
कर्मण्यकर्मः पश्येदकर्माणि च कर्मण्यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्— कर्म क्या है? और अकर्म क्या है इस बात का निष्कर्ष निकालने के लिए बड़े–बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित होगी हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जायेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है:

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमविगच्छति।।

अर्थात्— मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं नि:रंहकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत् को पा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने स्पष्ट कह डाला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुर्द्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिर्मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्— हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों डालते हो। इस प्रकार से आप मिले-जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थत: सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन का यह मनोभाव समझकर भगवान ने उसे उत्तर दिया—

हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुमान करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्मयोग के द्वारा संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्म को आरम्भ किये बिना ही निष्कामना को प्राप्त नहीं कर सकता। और जो लोग कर्म मीमांसा को न समज करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्— दम्भी कहा जाता है। और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शङ्का छोड़कर के बिल्कुल निश्चित मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म य: पश्येदकर्मणि च कर्म य:।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स: युक्त: कृत्स्नकर्मकृत्।।

अर्थात्— जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ है मनुष्य नेकी करे और कुये में उसे डाल दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करें परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करें। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्— जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म-लेस लागू नहीं होता। सूत्र है :—

तज्ज: संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द. १/५०

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते हैं। इसलिए जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिये? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यवाचरति श्रेष्ठ: तत्त्वदेवेतरी जन:।
स यत्प्रमाणं कुरुने लोका तदनुवर्तते।।

अर्थात्— महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप से रक्खा, और कहा :—

अर्थात्— हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता है और बड़ी लगन के साथ करता है क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि में कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिये। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रक्खे, यही कल्याण का ल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपना कर्म करते हुए निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। ऐसी निष्कामता को ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है जो मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बना कर भव-चक्र से छुटकारा दिला देती है।

शक्ति प्राप्ति का साधन : धारणा

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

('धारणा' के अभ्यास से साधक किस प्रकार शक्ति-मान बनकर लाभान्वित होकर इष्टसिद्धि का लाभ ले पाते हैं इसे समझिए श्रद्धेय गुरुदेवजी के इस लेख में।)

— सं. सम्पादक

हमने पहले कभी किसी लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है।

''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो''

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म-पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षो काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की धुनि सवार रहती है। किन्तु मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना'' के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार को शरीर का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए होता है जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका में डाल दिया जाय तो वह उस बालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा-सा भी जलाशय मिल आता है तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु यह शान्ति भी उसके लिए अस्थाई रहती है, जब तक वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसका दु:ख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है। अत: जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसे शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। इसलिए योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम् शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए वे कहीं भी दीनता को प्राप्त नहीं होते। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन की ज्योति को भी महाज्योति कहा गया है मन्त्रों में इसी को शिव संकल्पमय होने की प्रार्थना की गई है।

हमारा मन जैसे जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है सोता हुआ भी उसी प्रकार दूरगामी और क्रियाशील बना रहा करता है। यह शुभ संकल्पों से हमारे उत्थान का कारण बन जाता है। यथा:

मनएव मनुष्याणाम्।
कारण बन्धमोक्षयो:।।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्वप्रथम मन की चंचलता को रोक कर शक्ति संचय करने के लिए उसका संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतंजलिदेव ने 'योग दर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया है, यह सारे के सारे अङ्ग यद्यपि मन पर कण्ट्रोल करने के लिए अचूक साधन हैं। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुखी नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेजधार वाला हो और जो उसे काट सके इसलिए परम श्रेय लाभ करने के लिए और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहित करने के लिए प्रथम मन को ही वश में लेना ही बहुत आवश्यक है। इसकी पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है? इसके विषय में भगवान् पतंजलि देव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्वप्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य का सर्वार्थक मन का एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं, किन्तु व्यासदेवजी योग-दर्शन के भाष्य में धारणा को इस प्रकार बतलाया है—

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्घ्नि ज्योतिषि, नासिकाऽये, जिह्वाऽग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बंध इति धारणा।

अर्थात् नाभि, चक्र, हृदय, कमल, भूर्ध्व ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय को मन का भावना रूप में चिन्तन करना ही वृत्ति बन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय काल में भगवान शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरमी करें और कल्पना पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें तो यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाय, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव जी का आदेश है :—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्ब समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो-चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया— इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक बात यह भी परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्णरूपेण हो। हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार ''अकर्णात् कर्णंम् श्रेयः'' न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम-से-कम तीन साल तक एक विषय पर ही निरन्तर अपना मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान पतंजलिदेवजी ने योग-दर्शन में

धारणा सु योग्यता मनसः।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है। और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल ३-३ घण्टे अपने ध्येय विषय को धारणा करके उसको वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है, उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रकट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बँधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

योग-साधना में तप का महत्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योगदर्शन में ही नहीं, किन्तु वेदों, उपनिषदों और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ में भी तप का क्या महत्व है इसे विशेष रूप से समझाने का प्रयास किया है पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में।)

— सं. सम्पादक

योग-साधना में तप का विशेष महत्व है, इसीलिए भगवान् पतंजलिदेव ने तप को योग-सिद्धि का आधार बताते हुए, अनिवार्य रूप से उसे अपनाने पर बल दिया है। योग-दर्शन साधन पाद के प्रारम्भ में क्रियायोग की परिभाषा करते हुए सूत्र संख्या १ में वे कहते हैं—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

यानी क्रियायोग का जो अवलम्बन समाधि सिद्धि की उपलब्धि में सहायक बनता है, उसमें तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जैसी सद्वृत्तियों को अपने आचरण और व्यवहार में उजागर कर लेना अति आवश्यक रहता है। सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखना— स्वयं ही उसकी विशिष्टता का परिचय दे रहा है। बिना तप के न स्वाध्याय की साधना सध सकती है और न ईश्वर-प्रणिधान की क्रिया में स्थैर्य लाया जा सकता है। तप:पूत साधक बने बिना क्रियायोग का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता, इसी से तो 'क्रियायोग' सम्बन्धी सूत्र में तप: को प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

तप क्या है? इसकी व्याख्या भगवान व्यासदेव के शब्दों में— ''द्वन्द्व सहनं तप:'' अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि में सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों के आघातों को सहन करते हुए तन्मयता से निरन्तर उपाय में लगे रहना ही तप कहलाता है। इन्द्रिय-निग्रह और मन की चंचलता को नष्ट करने का अभ्यास करना भी तप कहलाता है। यह तप ही मनुष्य जीवन की सफलता का मूल होता है, इसीलिए तप को ही धर्म की धुरी कहा गया है। तप की महत्ता का विशद्ता से वर्णन महाभारत में भी आया है।

शान्तिपूर्ण में महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए जो उपदेश दिया है, वह तप की श्रेष्ठिता का परिचायक है। यथा—

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षयते।
न ह्यतप्ततषा मूढ़: क्रियाफलमवाप्नुते।।

भीष्मजी ने कहा— राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता है।

प्रजापतिरिदं सर्वं, तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे।।

भगवान प्रजापति ने तपसे ही इस समस्त संसार की सृष्टि की है तथा ऋषियों ने तप से ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।

तपसैव ससर्जा नं, फलमूलानि यानि च।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः, पश्यन्ति सुसमाहिताः।।

जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाता ने तप से ही उत्पन्न किया है। तपस्या से सिद्ध हुए एकाग्र चित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं।

औषधान्यगदादीनि, क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्धयन्ति, तपोमूलं हि साधनम्।।

औषध, आरोग्य आदि को प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।

यद् दुरापं भवेत् किंचित्, तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्ता, स्तपसैव न संशयः।।

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है।

सुरापोऽसम्मतादायी, भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः, पापात् प्रमुच्यते।।

शराबी, किसी सम्पत्ति के बिना ही उसकी वस्तु उठा लेने वाला (चोर), गर्भ-हत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पाता है।

तपसो बहुरूपस्य,तैस्तैद्वारैः प्रवर्ततः।
निवृत्त्यः वर्तमानस्य तपो, नानशनात् परम्।।

तपस्या के अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायों द्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परन्तु जो निवृत्ति-मार्ग से चल रहा है, उसके लिए उपवास से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है।

अहिंसा सत्यवचनं, दानमिन्द्रिय निग्रहः।

एतेभ्यो हि महाराज, तपो नानशनात् परम्।।

महाराज! अहिंसा, सत्य भाषण, दान और इन्द्रिय-संयम— इन सबसे बढ़कर तप है और उपवास से बड़ी कोई तपस्या नहीं है।

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति, स्वर्गधर्माभिगुप्तये।

तस्मादर्थे च धर्मे च, तपो नानशनात् परम्।।

इस संसार में धार्मिक पुरुष स्वर्ग के साधनभूत धर्म की रक्षा के लिए इन्द्रियों को सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं, परन्तु धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि के लिए तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है।

ऋषयः पितरो देवा, मनुष्या मृगपक्षिणः।

यानि चान्यानि भूतानि, स्थावराणि चराणि च।।

तपःपरायणाः सर्वे, सिद्ध्यन्ति तपसा च ते।

इत्येवं तपसा देवा, महत्त्वं प्रतिपेदिरे।।

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्या में ही तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार देवताओं ने भी तपस्या से ही महत्वपूर्ण पद प्राप्त किया है।

इमानीष्टविभागानि, फलानि तपसः सदा।

तपसा शक्यते प्राप्तुं, देवत्वमपि निश्चयात्।।

ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्या से ही सुलभ होते हैं। तपस्यास से निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

श्रुति में भी कहा गया है कि परम प्रभु ने सृष्टि-रचना में तप को आधार बनाया था। ''ऋतं च सत्यं चा सीद्धान्तपसो अप्यजायते'' अर्थात् गतिशील, चेतन जगत और स्थिर रहने वाला अचेतन जगत तप से ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा कथन है भगवती श्रुति का। तप की साधना सध जाने पर ज्ञान-राशि का प्रवेश मानव के मस्तिष्क में स्वतः ही तीव्र गति से होने लगता है। देवताओं ने असुरों पर जब-जब भी विजय पाई है, तब-तब तपस्यारत रहकर ही पाई है, ऐसी महिमा है तप की। महर्षि पतंजलि ने इसीलिए अपने क्रियायोग सम्बन्धी सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखकर उसकी विशिष्टता को प्रकट किया है। अतः सभी योग साधकों को तप को आधार बनाकर अपनी साधना को सफलीभूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग-साधना में साधक तप के महत्व की उपेक्षा न कर दें, इसीलिए योग-दर्शन के प्रणेता ऋषि ने इसमें नियमों को सम्मिलित कर दिया है। साधन पाद के सूत्र संख्या में पतंजलि भगवान लिखते हैं—

शौचसन्तोषतपः स्याध्यायेश्वरप्रणिधानाभि नियमाः।

यम और नियमों के पालन किये बिना योग-पथ में आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता है। तप से जब अशुद्धि का क्षय होता है तब शरीर और इन्द्रियाँ सिद्धि की प्राप्ति में सहायक होती हैं। यथा—

कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षयात्तपसः।

— योग-दर्शन २/४३

तप सिद्धि प्राप्ति आवश्यक रूप से सहायक बनता है। कैवल्य पाद के सूत्र, संख्या १ में यह भी स्पष्टता से बताया गया है—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

आशय स्पष्ट है कि जिन पांच प्रकारों से यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें तप भी मुख्य प्रकार है। अतः साधकों तपोमय जीवनचर्या बनाने का सदैव ध्यान रखना ही चाहिए।

योगी की नींद

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योगी की नींद को योग दर्शन में योग–निद्रा के नाम से इङ्गित किया गया है। किस प्रकार सर्व–साधारण की रात योगी का दिन और सर्व–साधारण का दिन योगी की रात होती है उसी प्रकार सर्व–साधारण की नींद से योगी की नींद अपनी अलग विशेषता को समझाने का सुप्रयास किया है श्री सद्‌गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में। निजी अनुभव और विश्वास के आधार पर योगाचार्यों की यह मान्यता रही है कि योगी निद्रा को अपने वशवर्ती करके उसे भी समाधि प्राप्ति का अवलम्बन बना लिया करते हैं।)

— सं.सं.

योग–दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने जहाँ पर क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का वर्णन किया है वहाँ पर निद्रा को भी उन्होंने एक वृत्ति बतलाया है। वे लिखते हैं :–

अभावः प्रत्ययालम्बना वृत्ति निद्रा।

— योग. द. १/१०

अर्थात्— अभाव के कारण का अवलम्ब लेने वाली निद्रा नाम की भी एक वृत्ति है। इसी सूत्र पर अपना भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेव महाराज ने कहा है–

सा च संप्रबोधेप्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथं सुखम–हमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदौ करोति, दुःखम–हमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनव स्थितम्, गाढ़ं मूढोऽहम–स्वाप्सं गुरूणि में गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमलमुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदा–श्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्–प्रत्यय– विशेषों निद्रा, सा च समधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति।

अर्थात्— अभाव प्रत्यय का अवलम्बन लेने वाली वृत्ति निद्रा है। यह निद्रा वृत्ति भी एक अनुभूति विशेष है। मनुष्य जब सोकर उठता है तो उसके मन में एक विशेष प्रकार का ज्ञान रहता है और वह ज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है सोकर उठने वाला व्यक्ति कहता है अरे! आज तो मैं बहुत सुख–पूर्वक सोया, मेरा मन बहुत ही प्रसन्न है, मेरी बुद्धि आज खिली हुई है।' इसके अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'अरे! आज तो मैं बड़ा ही कष्टपूर्वक सोया मेरा मन घिरा हुआ सा है और अब भी चक्कर जैसे आ रहे हैं।' इसके अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति कहता है 'अरे! आज तो मैं बड़ा गाढ़–मूढ़ भाव में सोया रहा। मेरा शरीर बहुत भारी–भारी है। बड़ा आलस्य सा आया हुआ है।' यह ऐसे तीन प्रकार के अनुभव सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान व्यक्तियों को होते रहते हैं। इसलिए जागने पर जो एक विशेष प्रकार का ज्ञान होता है और उस ज्ञान में सोते समय की अनुभूति प्रधान रहती है, इसलिए निद्रा भी एक वृत्ति है। योगी जिस प्रकार से समाधि में अन्यान्य वृत्तियों पर नियन्त्रण करता है। उसी प्रकार निद्रा–वृत्ति पर भी नियन्त्रण करना उसे आवश्यक है।

अब रही यह बात कि योगी की नींद कैसी होनी चाहिये? इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी महाराज ने प्रथम सतोगुण, दूसरा रजोगुण और तीसरा तमोगुण इनमें से जिस व्यक्ति के मन में जिस गुण की भी प्रधानता होती है उसके अनुसार ही उसकी निद्रा का भी रूपक बदल जाया करता है। योगाभ्यासी साधक अपने मन में रहने वाले रजोगुण और तमोगुण को अपने अभ्यास के बल से जब बिल्कुल नष्ट कर डालता है और उसके मन में विशुद्ध रूप में जब सतोगुण चमक उठता है तब ऐसी स्थिति में उस योगी की निद्रा वृत्ति भी अंधकार पूर्ण न रह कर ज्ञानमयी बन जाया करती है। कोई भी योगी संसार में विविध प्रकार के कार्य करते हुए जब अपने मन में किसी भी प्रकार की थकावट अनुभव करता है, तो वह निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेकर के सोने का अभिनय करता है योगी सो रहा है अतीव आनन्ददायक नींद में, पर वह देखता यह है कि वह एक अनुपम प्रकाश में लीन है और ऐसे विशुद्ध प्रकाश में वह बहुत बड़ी शान्ति का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति के लिए ही श्री कबीर जी ने यह दोहा कहा है—

सोना तो सबसे भला, जो कोई जाने सोय।
अन्तर लब लागी रहे, सहज हि सुमिरन होय।।

ऐसे ज्ञानमय क्षेत्र में लीन होकर के योगी निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेता हुआ भी पूर्ण सुख और शान्ति का अनुभव करता है। यही कारण है कि भगवान पतञ्जलिदेव ने 'स्वप्न–निद्राज्ञानावलम्बनम् वा' यह सूत्र कह करके स्वप्न ज्ञान का अवलम्बन लेकर के भी समाधि प्राप्ति के उपायों में निद्रा ज्ञान को एक खास उपाय बताया है।

अत: योगी साधक को चाहिये कि पहले योग के अन्यान्य साधनों द्वारा अपने मन को सतोगुणी बना ले। जिस योगी का मन स्वाध्याय करने से या तपश्चर्या करने से सतोगुणात्मक बन जायगा तो उसकी निद्रावृत्ति भी समाधि की जननी बन जायेगी। ऐसा योगी शवासन में लेट करके निद्रा ग्रहण करें। जो बात कबीर जी ने उपरोक्त दोहे में कहा है कि—

सोना तो सब से भला, जो कोई जाने सोय।
अन्तर लव लागी रहे, सहज हि सुमिरन होय।।

यह उक्ति अवश्य चरितार्थ हो जायेगी। शवासन में सोने से सुषुम्ना की स्वाभाविक गति होती है और योगी ने यदि अपने मन के अन्दर सतोगुण को बसा लिया है तो शवासन में सोने से सुषुम्ना और सुषुम्ना के अन्तर्गत स्वाभाविक रूप से ब्रह्म नाड़ी की जागृति हो जाती है, जिससे योगी की वह नींद, नींद न रह समाधि का रूप धारण कर लेती है। कोई भी योग्य साधक जो किसी योग्य गुरु से उपरोक्त विषय को समझ करके निद्राज्ञान की ओर बढ़ेगा वह अवश्य ही समाधि द्वार तक पहुँच जायेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

क्लेश और उनका मूल अविद्या

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी के लेख का अध्ययन-मनन आपको क्लेश-रहित जीवन साधना की ओर बढ़ाने में सहायक होगा। साथ ही इससे क्लेशों का रूप समझ लेने में आपको सहायता मिलेगी।)

— सम्पादक

मनुष्य सदा क्लेशों से बचकर रहना चाहता है। जीवन का एक क्षण भी क्लेशों में न बोते ऐसी इच्छा, उसकी सदा बलवती बनी रहती है। इतना ही नहीं, कि वह केवल इच्छामात्र करके ही चुप बैठकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता हो, अपितु वह क्लेश निवारण के लिए विभिन्न प्रयास भी करता रहता है। दान, तप, जप, पूजा-पाठ, औषध-उपचार, व्यवसाय आदि सबके मूल में उसकी यही चाहना रहती है कि वह सभी प्रकार के कष्टों, क्लेशों और पाप-तापों से बचा रहकर सुख एवं शान्ति से भरा-पूरा जीवन इस धरती पर बिता सके। लेकिन बहुत प्रयत्न करने पर भी; उसकी क्लेश रहित जीवन जीने की कामना पूरी नहीं हो पाती। वह सुख और शांति की झोली भरने हेतु घर से निकलता है, किन्तु जा पहुँचता है ऐसे कटीले अरण्य में जहाँ कष्ट, और आपदाएँ अनायास आकर उससे टकरा जाती हैं और न चाहते हुए भी उसे उनका प्रतिफल भोगना पड़ता है। क्या कभी आपने सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? क्यों और कैसे यह अनचाहे और अन-बुलाये मेहमान मानव के मन-आँगन में आकर अपना आसन जमा लेते हैं?

इसका समाधान करते हैं हमारे धर्म-शास्त्र। जिनका उद्देश्य मानव-जीवन को सुखी, सम्पन्न और निराभय बनाये रखने का दिशा-बोध देना ही रहा है। जो मनुष्य शास्त्रीय दिशा-बोध की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से अशास्त्रीय तौर-तरीकों से अपना जीवन बिताते हैं वे समझ ही नीं पाते कि जीवन है क्या? क्यों और किसलिए यह मिला है और क्यों उन्हें जीवन में क्लेशों कष्टों का सामना करना पड़ता है?

इस लेख में जीवन के उद्भव और उसके उद्देश्य की व्यापक चर्चा हम करने नहीं जा रहे। आगे कभी हम इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करेंगे। प्रस्तुत लेख में तो हमारी गवेषणा का विषय केवल इतना ही है कि शास्त्रीय दृष्टि से क्लेश क्या है और क्यों वे अनायास जीवन में आकर उसे क्लेशमय बाबा डालते हैं।

योग-साधकों के हित में योग-दर्शन के सूत्रकार भगवान पतंजलि के शब्दों में ही इस पर प्रकाश डालना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं। वे योग-दर्शन के पाद २ में सूत्र संख्या १२ में बड़ी स्पष्टता से लिखते हैं कि मनुष्य की जीवन-यात्रा में क्लेशों का मूल कारण उसका अपना कर्माशय ही रहता है। पढ़िए वह सूत्र इस प्रकार है :

क्लेशमूत्रः कर्माशयो दृष्टा दृष्ट जन्म वेदनीयः।

अर्थात् क्लेश ही जिसका मूल है ऐसा कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में भोगनीय होता है।

अब विचारणीय बात मात्र यह रह जाती है कि इस 'क्लेश मूलक कर्माशय' से जो सदा सर्वदा मनुष्य के जन्म-मरण का कारण बना रहता है, कैसे छुटकारा मिले?

लेकिन इससे भी पहले यह जान लेना या समझ लेना भी जरूरी है कि क्लेश क्या हैं, इनका स्वरूप कैसा है और वे कितने हैं। क्यों कि बिना इसके जाने-समझे न क्लेशों से छुटकारा मिल सकेगा, न क्लेश मूलक कर्माशय से।

योग-दर्शन के साधन पाद के आरम्भ में ही भगवान पतंजलिदेव ने क्लेशों का नाम ध्येय इस प्रकार किया है—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

योग-दर्शन २-३

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश, पाँच क्लेश कहे गये हैं।

इस सूत्र पर अपने भावों को व्यक्त करते हुए श्री व्यासदेवजी महाराज ने निम्नाङ्कित पंक्तियाँ लिखी हैं-

क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढ़यन्ति, परिणाममवस्था पर्यान्त, कार्यकारण स्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहयन्त्री भूत्वा कर्मविपाकांच-भिनिर्हरन्तीति।

अर्थात् क्लेशों को ही पंचविपर्य नाम से कहा गया है। यह बढ़े हुए क्लेश गुणाधिकार को उत्तरोत्तर दृढ़ करते हुए परिणाम को अवस्थापित करते हैं। कार्यकारण स्रोत को उकसाते हैं और एक-दूसरे के साथ मिलकर के कर्मविपाक को प्रकट करते हैं।

इन पाँचों क्लेशों में से प्रथम क्लेश अविद्या है और यह अविद्या ही क्लेशाधिकार की जननी है। नाम रूप की दृष्टि से क्लेश चार प्रकार के रूपकों में रहते हैं— (१) प्रसुप्त, (२) तनु, (३) विच्छिन्न, (४) उदार। इन सभी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेशों में अविद्या नामक क्लेश प्रसुप्त है। भगवान पतंजलिदेव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

अविद्या क्षेत्र मुत्तरेषां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

— योग २-४

अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार यह जो क्लेशों के रूपक हैं उनकी जननी केवल मात्र अविद्या ही है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी ने अपना जो भाव व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है—

अत्राविद्या क्षेत्रम-प्रसव भूमिः, रुत्तरेषाम्— स्मितादीनां चतुर्विधि कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्, तत्र का प्रसप्तिः चेतसिशक्तिमात्र प्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोधालम्बने संमुखीभावः प्रसंख्यानवती दग्धक्लेशबीजस्य संमुखी भूतेप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्ध बीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीण क्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्ते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पंचमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशनां तदां बीजसामर्थ्य दग्धमिति विषयस्य मुम्सखी-भावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्ध-बीजानाम् प्ररोहश्च, तनुत्वमुच्यते, प्रतिपक्षभावनो पहताः क्लेशास्तनवी भवन्ति। तथा विच्छिद्य विछिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः कथं? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्व चिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धव्रतिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेश-विषयत्व प्रत्ययं नाति कामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्त तनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते सत्यमेवै तत् किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जनेनाभि व्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्या भेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यद विद्ययावस्त्वाकार्यते तदेवयानुशेरते क्लेशा विपर्यास-प्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणाञ्चाविद्यामनुक्षीयन्त इति।

अर्थात् क्लेशों की जन्मदात्री— प्रसव भूमि केवल अविद्या ही है। अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश इन शेष क्लेशों की उत्पत्ति अविद्या से ही होती है। इस अविद्या से जन्य अस्मिता, राग, द्वेषादि जितने क्लेश हैं वे सब प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन रूपों में बँटे रहते हैं।

क्लेशों की सुप्तावस्था का वर्णन करते हुए भगवान व्यासदेव बतलाते हैं कि प्रसुप्त उसे कहते हैं जिसमें संस्कार बीजमात्र से रहा करते हैं अर्थात् जैसे बीज के अन्दर वृक्ष छुपा रहता है तब तक जब तक कि वह प्रगट नहीं होता। इस रूप में यानी बीजभाव में यह प्रसुप्त है, शक्तिमात्र से कायम है। अभी तक किसी भी प्रकार से वह क्रियाशील नहीं है। उदाहरण के तौर पर इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे वट वृक्ष का बीज प्रथम अणुमात्र होता है जब उसका उद्गम समय आयेगा तब वह बहुत ही लम्बा-चौड़ा विस्तार ले करके दूर तक फैल जावेगा। किन्तु जब तक वह बीजभाव से अवस्थित है तब तक उसका यह प्रसुप्ति काल रहेगा। प्रसुप्त संस्कार उद्गमकाल सामने आने पर प्रगट हो सकते हैं, किन्तु योगी जिस समय अपनी योग ज्ञानाग्नि के द्वारा ऐसे प्रसुप्त संस्कारों का दहन का कर देता है तब वे सब संस्कार दग्धबीज हो जाया करते हैं। जिस समय योगी के संस्कार दग्धबीज हो गये होते हैं तब ऐसी स्थिति पाजाने पर योगी का शरीर अर्थात् देह चरमदेह कहलाया करता है, ऐसा योगी जन्म मरण के चक्र से बिल्कुल छूट जाया करता है, इसीलिए इसको चरमदेह कहा गया है। इसके अतिरिक्त तनु, विच्छिन्न एवं उदार वृत्ति के संस्कार और रहते हैं, इनमें से साधक किसी एक विषय में रागवान होता है तो वह दूसरे विषयों में विच्छिन्नता एवं तनुत्व धारण कर लेता है।

उदाहरण के लिए इस बात को यों समझ लेना चाहिए कि जैसे किसी साधक का एक विषय के अन्दर राग है, तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि बाकी अन्य विषयों में उसका राग है ही नहीं या होगा ही नहीं। ऐसी बात नहीं है। उस समय का वह उसका राग उदार वृत्ति वाला कहलायेगा। किन्तु शेष विषयों में उसकी तनुता या विच्छिन्नता आ जायगी। उदाहरण के लिए इसे भी यों समझ लेना चाहिए कि जैसे कोई कामुक व्यक्ति किसी स्त्री से स्नेह करता है और उसका स्नेह इतनी अधिक मात्रा में बढ़ा हुआ है कि वह उससे एक क्षण भी दूर नहीं रह सकता तब यह उसका संस्कार उदारवृत्ति वाला संस्कार होगा जो दृढ़तर है। इसी को लब्धवृत्ति संस्कार भी कहते हैं पर इसका भी अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का प्रेम किसी दूसरी जगह है ही नहीं या होगा ही नहीं। होगा तो अवश्य किन्तु वह गौण होगा। जैसे राग के समय क्रोध दिखलाई नहीं देता। जहाँ क्रोध प्रबल होता है वहाँ राग हल्का पड़ जाता है। इसी तरह जब किसी एक संस्कार का पूर्ण प्रबलता के साथ भुगतान होता है तो उसके अन्य संस्कार हल्के पड़ जाते हैं या विच्छिन्न हो जाते हैं। जैसे एक व्यक्ति ने कहीं किसी गाँव में जन्म लिया, उस समय वहाँ के उसके बन्धु-बान्धव बहुत ही प्रेमी और प्यारे हैं। देखने से मालूम पड़ता है कि इनकी यह प्यार और प्रीति कभी टूटेगी नहीं किन्तु समय आने पर किसी व्यापार के बहाने यही व्यक्ति हजारों मील की दूर जाकर बस जाता है, तब ऐसी दशा में वह उन पुराने मित्र-प्रेमियों को बहुत ही कम याद करता है। अधिक समय हो जाने के बाद तो बिल्कुल भूल ही जाया करता है। इसी बिल्कुल भूल जाने का अर्थ है— विच्छिन्नता और थोड़ा-थोड़ा याद रहने का अर्थ होता है तनुत्व। इन सभी प्रसुप्त तनु, विच्छिन्न एवं उदार संस्कारों की जन्मदात्री होती है अविद्या। इसलिए अविद्या ही सभी क्लेशों की मूलभूता है यानी जननी है। अतः शास्त्रकार परामर्श देते हैं कि पाँचों क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए साधक अथवा योगी को अपना प्रधान शत्रु अविद्या को समझ कर उसका नाश सद्गुरु के सानिध्य में रहकर ज्ञान की तीक्ष्ण तलवार से करना चाहिए।

प्राणायाम एवं त्रिबंध

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(योग साधकों के लिए प्राणायाम के महत्व पर पूज्य गुरुदेवजी ने समय–समय पर अपने विचार विस्तार से प्रकट किये हैं। इस अङ्क में उसी विचार शृंखला में से पाठकों के हितार्थ यह लेख यहाँ दिया जा रहा है।)

— सम्पादक

प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को तीन बन्धों को लगाने की विधि का पूरा ज्ञान होना चाहिए और बन्धों को लगाते हुए ही उन्हें प्राणों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए। इस लेख में बन्धों का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। त्रिबन्धों का ज्ञान प्राणायाम के साधकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। पढ़िये मूलबन्ध का स्वरूप और उसका फल—

पार्ष्णि भागेन संपीड्य, योनिमाकुञ्चयेद्‌गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य, मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा, ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मुलबन्धं हि योगिनः।।

अर्थात् पैर की एड़ी के भाग से गुदा और लिंग के मध्य भाग को दबायें और गुदा का ऊर्ध्वाकर्षण करें। इसके साथ ही अपान वायु का मन के दृढ़ संकल्प के साथ ऊर्ध्वाकर्षण करें, इसी को मूलबन्ध कहते हैं। यह अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी बनाता है, इसीलिए आचार्यों ने इसको मूलबन्ध कहा है—

गुदं पाष्णर्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्‌बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वम् समायाति समीरणः।।
प्राणापानौ नादविन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।

अर्थात् पैर की एड़ी से गुदा द्वार को दबाकर अपान वायु का ऊर्ध्वाकर्षण करें, बार–बार ऐसा करने से वायु का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राण और अपान, नाद और बिन्दु दोनों मूलबन्ध के लगाने से एकता को प्राप्त होते हैं। योग की निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है—

अपान प्राणयोरैक्यं, क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि, सततं मूलबन्धनात्।।
अपान ऊर्ध्वगे जाते, प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा, जायते वायुनाऽऽहता।।
ततो यातो बह्यपानौ, प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनान्यन्तप्रदीप्तस्तु, ज्वलना देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनौ सुप्ता, संतप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।

अर्थात् मूलबन्ध के लग जाने के बाद प्राण–अपान की एकता हो जाने पर शरीर में संचित मल–मूत्र का क्षय हो जाता है। अर्थात् प्राणायाम के घर्षण से अन्न का रस भाग जल्दी से व्याप्त होने लगता है और प्राणायाम के अभ्यासी को मल–मूत्र बहुत थोड़ी ही मात्रा में आने लगते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जीर्ण शरीर वाला अति वृद्ध भी पुनः यौवन को प्राप्त कर लेता है। यह मूलबन्ध का विशेष परिणाम है, क्योंकि ज्योंही प्राण ऊर्ध्वउति करता है त्योंही वायु से ताड़ित हुआ बह्नि–मण्डल पूर्णरूपेण प्रदीप्त हो जाता है एवं उससे अग्नि की लपट तीव्रता से निकलने लगती है। फिर वह अग्नि अपान के बल से ऊर्ध्वगति करके प्राण में मिल जाती है एवं प्राणवायु समागम से देह में प्राप्त हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाती है। इसी के फलस्वरूप महाशक्ति कुण्डलिनी जग जाती है, जिस प्रकार दण्ड के मारने से सर्पिणी जगकर भागती है—

बिलं प्रविष्टेव ततो, ब्रह्मनाड्यन्तरं ब्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः, कर्त्तव्यो योगिभिः सदा।।

अर्थात्— कुण्डलिनी जग करके सुषुम्ना विवर में प्रवेश कर जाती है, इसलिए योगियों को चाहिए कि इस मूलबन्ध का अवश्य और नित्य अभ्यास करें—

उड्डीयान बन्ध

मूलबन्ध के बाद उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए। उड्डियान बन्ध लगाने की विधि—

बद्धो येन सुषुम्नायां, प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं, योगिभिः समुदाहृतः।।
उड्डीनं कुरुते यस्माद, विश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र, बन्धोऽभिधीयते।।

उड्डीयान के द्वारा प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और ब्रह्मरन्ध्र ही ओर उड़ान करता है, इसलिए योगियों ने इसको उड्डीयान बन्ध कहा है। जिस प्रकार से पक्षी आकाश में उड़ान किया करता है,

उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है, इसलिए इसको उड्डीयान कहते हैं।

उड्डीयान बन्ध की विधि

उदरे पश्चिमोत्तानं, नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो, मृत्युभातंग केसरी।।
उड्डीयानं तु सहजं, गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु, वृद्धोऽपि तरुणायते।।

इसमें पेट को पीठ की ओर तनाव दिया जाता है और नाभि से ऊपर की ओर खींच लिया जाता है। यह बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के ऊपर केसरी अर्थात् सिंह के समान है। मृत्यु से जिताने वाला है, यह उड्डीयान बन्ध बहुत सरल तरीके से गुरुपदिष्ट है। जो इसका अभ्यास करते हैं वे जराजीर्ण हो जाने पर भी यौवन प्राप्त कर लिया करते हैं।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि, तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं, जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धाना, मुक्तमोह, युड्डीयानकः।
उड्डीयान दृढ़े बन्धे, मुक्ति स्वाभाविकी भवेत्।।

अर्थात्— जो योगाभ्यासी प्रयत्न करके नाभि से ऊर्ध्व उत्तान करता है। ऐसा व्यक्ति छः महीने के अन्दर मृत्यु को जीत लेता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। हमारे योगाचार्यों ने इस उड्डीयान बन्ध को सब बन्धों में उत्तम कहा है। जिस योगी साधक ने उड्डीयान बन्धक अभ्यास दृढ़ कर लिया है उसकी मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है। मूलबन्ध के बाद में उड्डीयान बन्ध लगाने से प्राणायाम ऐक्य होकर प्राण की ऊर्ध्व गति हो जाती है एवं वायु पश्चिम वहन करता है। उड्डीयान बन्ध बाह्य कुम्भक में बल देता है। इसलिए मूलबन्ध के बाद इसका अभ्यास करना चाहिए। उड्डीयान बन्ध के बाद जालन्धर बन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध का लक्षण

कण्ठ कण्ठमाकुच्यं हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरा मृत्यु विनाशकः।।
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धकंठ दुःखौघनाशनम्।।

कण्ठ का संकोचन करके ठोड़ी को छाती में लगा दें। जरा मृत्यु का विनाशक जालन्धर बन्ध योगियों ने कहा है। यह बन्ध शिर के नाड़ी समूह को बाँधता है और अधोगामी अमृत को रोकता है, सारे दुःखों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध नाम का बन्ध कहा जाता है।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायु प्रकुप्यति।।
कण्ठ संकोचनेनैव द्वे नाड्यो स्तम्भयेद्दृढ़म्।
मध्यचमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धम्।।

जालन्ध बन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जालन्धर बन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों का स्तम्भन स्वाभाविक हो जाता है। षोडशाधार को बन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है।

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिंगलां बध्वा बाह्येत्पश्चिमे पथि।।
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम्।
ततो न जायते मृत्युजरारोगादिकं तथा।
बन्धवयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धेश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतंत्राणा साधनं योगिनो बिदुः।।

अर्थात्— साधक को चाहिए कि पहले मूलबन्ध लगाये फिर उड्डीयान करें। इड़ा-पिंगला को बाँधकर वायु को पश्चिम मार्ग से चलाये। इस अभ्यास से वायु लयता को प्राप्त हो जायगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद साधक को जरा-मृत्यु का भय नहीं होता, ये ही तीनों बन्ध महासिद्ध योगिराजों के अनुभूत हैं। यह महाबन्ध और हठयोग की प्राथमिक ऊँची साधना है। इन बन्धों का वेत्ता योगी कभी भी मौत को प्राप्त नहीं होता। इस प्राणायाम के अभ्यासी को इन तीन बन्धों का अभ्यास अवश्य-अवश्य करना चाहिए। साधक को चाहिए कि प्राणायाम जब करे, मूलबन्ध को पहले से लगालें और वायु को रेचन करते हुए उड्डीयान लगाये और आभ्यन्तर कुम्भक कर लेने के बाद जालन्धर बन्ध लगाकर बैठ जाय। इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक यदि बन्ध के साथ प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो अवश्य मृत्यु को जीत लेंगे और अमरत्व को प्राप्त कर लेंगे।

क्लेशनिवृत्ति का साधन—— योग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हम इससे पूर्व अपने लेखों में यह भली प्रकार से समझा चुके हैं कि हमारा दृष्टादृष्ट जन्मसम्वेदनीय कर्माशय, क्लेशमूलक है। कर्माशय को जन्म देने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि पाँच क्लेश ही हैं। और इन पाँचों क्लेशों की जननी अविद्या है जिससे मनुष्य के जन्म–मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। हजारों उपाय करने पर भी जीव इस घोर सङ्कट से निकल नहीं पाता। वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार एवं संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निशि निरन्तर चलता रहता है। इसकी निवृत्ति का कोई साधन हो सकता है तो वह केवल मात्र योग ही है। भगवान श्री पतञ्जलिजी देव ने योग की परिभाषा लिखते हुये योग–दर्शन के आरम्भ में ही ''योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'' कह करके चित्तवृत्ति निरोध' का अर्थ चित्तवृत्तियों का रोकना समझ बैठते हैं किन्तु यथार्थ में अर्थ यह नहीं है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है ''चित्तवृत्तिनाम् नितरांरोध: निरोध:।'' अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थं चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन ही है। यदि हमारे मन में वृत्तिऐं बनी रहीं तो वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ यह चक्र बराबर चलता ही रहेगा। हमारा चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है और वह चित्त जैसी–जैसी स्थितियों में होता है वैसे–वैसे वृत्ति–संस्कार चक्र को बराबर बनाता चला जाता है। योगश्चित्त वृत्ति निरोध:, इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए चित्त को पाँच भूमिकाओं में बाँट दिया है। इनमें से क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन सभी भूमिकाओं में अपने गुणात्मक विभाग के अनुसार चित्त बटा रहा करता है। कहीं पर सतोगुण की प्रधानता है, कहीं पर रजोगुण की प्रधानता है तो कहीं पर तमोगुण की प्रधानता है। यदि कहीं पर सतोगुण चमक उठता है तो कालान्तर में वहीं चित्त समाधि के बल से निरुद्ध हो जाया करता है। मूढ़ावस्था के चित्त में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण और तमोगुण गौड़ हो जाया करते हैं। क्षिप्तावस्था के चित्त में रजोगुण की प्रधानता हो जाती है और तमोगुण सतोगुण गौड़ हो जाते हैं। विक्षिप्ता अवस्था के चित्त में सतोगुण प्रधान हो जाता है और रजोगुण व तमोगुण गौड़ हो जाते हैं। एकाग्रावस्था के चित्त में रजोगुण और तमोगुण न के बराबर रहते हैं और सतोगुण दैदीप्यमान होकर चमक उठता है। इन चारों स्थितियों के अन्दर चित्त जैसी–जैसी भूमिकाओं से निकलता है वैसे–वैसे अविद्या–जनित वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता रहता है अर्थात् मूढ़ावस्था का चित्त अंधकार प्रधान मूढ़ वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता है। क्षिप्तावस्था का चित्त रजोगुण प्रधान और विक्षिप्तावस्था का चित्त सतोगुण प्रधान तथा एकाग्रावस्था का चित्त उज्ज्वल सतोगुण प्रधान दैविय वृत्ति संस्कार चक्र का कारण बनता है। केवल मात्र निरोधावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें जाकर के सभी प्रकार के वृत्ति–संस्कार चक्रों का विलय हो जाया करता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने योग–दर्शन में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:' इस सूत्र का निर्माण किया। हमारे सभी धर्माचायों और व्याख्याताओं ने निरोध: समाधि और समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मन: कह करके समाधि का ही माया के बीच से परे निर्बीज का रूपक दिया है। किन्तु भगवान व्यासदेव न सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग बतलाया है उसका कारण केवल मात्र एक ही है, सम्प्रज्ञात समाधि में साधक उस रास्ते पर अग्रसर हो जाता है, इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि भी वृत्तियों के उपशमन की एक सीढ़ी है। योगदर्शन के साधनपाद में दृश्य को भोग और अपवर्ग का दाता माना है।

प्रकाश क्रियास्थितिशील भूतेन्द्रिमात्मकंभोगापयर्थार्थं दृश्यम्।

अर्थात् सतोगुण–रजोगुण और तमोगुणात्मक चित्त एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश यह पाँचों महाभूत और पंचमहाभूतों की नासिका जिह्वा, आँखें, त्वचा और कर्णेन्द्रिय आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रिय–दृश्य इन सबके समुच्चय से बनता है और ये दृश्य ही एक साधक के लिए भोग और अपवर्ग का दाता हुआ करता है। जो लोग इस दृश्य को पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के बाहरी भाग से देखते रहते हैं, वे लोग भोगों के भोक्ता बने रहते हैं एवं वृत्ति संस्कार चक्र को बराबर बनाते रहते हैं। आँख रूप को देखती हैं। रूप को देखकर सुन्दर रूप है तो उसमें आसक्ति पैदा कर लेती है कुरूप है तो घृणा पैदा कर लेती है। अच्छे और बुरे संस्कार दोनों ही जन्म–मरण के कारण बन जाते हैं। और इसी प्रकार रसना अच्छे पदार्थ ग्रहण करती है तो रोग को बढ़ा लेती है और वही पदार्थ कटु तिक्त व किसी प्रकार से घृणायुक्त होते हैं तो उनमें द्वेष पैदा कर लेती है। इसी प्रकार से त्वचा अच्छे स्पर्शों में सुख एवं बुरे स्पर्शों में दु:ख। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय अच्छे शब्दों के सुनने में राग और कर्ण कटु शब्द सुनने से द्वेष पैदा करके क्लेश मूलक कर्माशय को बना लेती है। इसके अतिरिक्त यही सारे दृश्य जा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखे समझे और सुने जाते हैं—

इन सब को हम इन्हीं इन्द्रियों के भीतरी भाग से देखते और सुनते हैं तो यही वृत्ति संस्कार चक्र जिसको बाहर से देख सुन करके हमने जन्म-मरण को देख लिया जाय तो यह सम्प्रज्ञात योग का रूप धारण कर लेता है जिसका संकेत अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रकार करते हैं—

या निशा सर्वे भूतानाम्
तस्या जाग्रति
यस्मा जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनैः।।

अर्थात् संसार के सब प्राणियों की जो रात है मुनि लोग उसमें जगते रहते हैं और जिसमें मुनि लोग उसमें जगते रहते हैं और जिसमें मुनि लोग जागते हैं उसमें संसार के सभी लोग सोते रहते हैं एक प्रकार से इन्द्रियों के भीतरी भाग से दृश्य को देखने का अर्थ संप्रज्ञात योग हैं। अन्तर्दृष्टि से दृश्य के देखने में वृत्तियों का उपशमन होता रहता है। बाह्य दृष्टि से देखने में वृत्ति और संस्कार आशय का उत्तरोत्तर जनन होता रहता है। क्लेश बनते रहते हैं और मनुष्य जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है और यदि साधक अन्तर्जगत में प्रवेश करके अन्तर्जगत का द्रष्टा बन जाता है तो वहाँ पर वृत्तियाँ संस्कारों की जन्मदात्री न बन करके क्षीण होती चली जाती है अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि में क्लेशों का तन्वीकरण हो जाता है और धीरे-धीरे फिर यह अपवर्ग का जनक बन जाता है। भगवान पतंजलिदेव अपने एक सूत्र मे कहते हैं कि—

ध्यान हेयास्तद वृत्तयः

अर्थात् यह सारी की सारी वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा हटाई जा सकती हैं। ध्यान द्वारा अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा इनका तन्वीकरण हो जाने के बाद मनुष्य मुक्ति-मार्ग की ओर बढ़ जाता है।

क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं उनका तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूप क्रिया योग के द्वारा तन्वीकरण हो जाने पर उन्हें प्रसंख्यान बल से ध्यानयोग के द्वारा हटाया जा सकता है। ध्यानाभ्यास के द्वारा जितना-जितना उनका सूक्ष्मीकरण हो जायगा उतनी-उतनी वे सब दग्ध-बीज दशा की ओर बढ़ती चली जायेंगी और बाद में समाधि के बल से बिल्कुल निर्बीजता को प्राप्त हो जायेंगी। उदाहरण से इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि एक व्यक्ति बहुत मैले कपड़े को धोकर साफ कर लेता है, किन्तु फिर भी यदि उसमें सूक्ष्म धूल अर्थात् धब्बे आदि कुछ रह जाते हैं तो वह सब रंग-काट आदि दूसरे उपायों से साफ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ध्यानयोग के द्वारा साधक अपनी वृत्ति अंशमात्र कुछ रह जाता है तो वह प्रसंख्यान बल से दग्धबीज होकर लय हो जाया करता है। उसी के लिए भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट कहा है—

ते प्रतिप्रसवहेयः सूक्ष्माः

अर्थात् वृत्तियों के सूक्ष्म अवशेष जो रह जाते हैं वह सब लयता के द्वारा समाप्त हो जाते हैं।

ध्यानयोग के द्वारा दग्धबीज के समान हुए वे क्लेश, जिस योग का चित्त प्रसंख्यान बल से अर्थात् निर्बीज समाधि तक पहुँच जाने के बाद चित्त अधिकार समाप्त हो जाता है। समाधि की नीचे की भूमिकाओं में चित्त थोड़ा-थोड़ा काम करता रहता है, किन्तु जहाँ पर निर्बीज समाधि का उदय हुआ वहाँ पर चित्त का अधिकार भी समाप्त हो जाता है, इससे आगे जाने का तो कोई अधिकार है ही नहीं। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त अपनी मूल प्रकृति में जाकर समाप्त हो जाता है और उसके साथ-साथ क्रियायोग के द्वारा जो चित्त वृत्तियाँ भी उस चित्त के साथ ही विलीन हो जाया करती हैं। अतः क्लेशों का समूलोन्मूलन का एकमात्र मूल साधनयोग ही है। जिसको पाकर साधक परम शाश्वत शान्ति को उपलब्ध कर लेता है।

मुद्रायें और उनका महत्व

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग साधना में जहाँ आसन प्राणायाम आदि क्रियाओं का अपना महत्व है वहाँ मुद्राओं की विधियों को जानना और उनके दैनिक अभ्यास का महत्व भी कम नहीं है। सिद्धि पाने के लिए यौगिक क्रियाओं का जानना मात्र ही पर्याप्त नहीं रहता किंतु आवश्यक यह भी रहता है कि क्रिया विधि को जानकर उसका नित्य कभी फलदायी नहीं हो पाती। क्रिया-विधि का पुन: पुन: करना उसे दुहराना ही अभ्यास कहलाता है। योगाचार्यो ने ऐसी क्रिया-विधि को जो अभ्यास द्वारा साधक का स्वभाव बन गया हो 'घट योग' कहा है।

योगशास्त्र के अनुसार 'प्राणापाननादबिन्दु जीवात्मपरमात्मनो:' अर्थात् प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीव और परमात्मा के मिलने से जो शरीर बनता है, उसे घट कहते हैं और घटस्थ अर्थात् शरीर में की जाने वाली क्रियायें घटस्थ योग कहलाती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परमात्मा हमारे शरीर में विद्यमान है, इस परमात्मा को जानने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही वस्तुत: घटयोग है।

तत्त्वज्ञान की वृद्धि और खोज में अभ्यास ही अधिक सहायक होता है, ऐसा महर्षि पतञ्जलि का भी कहना है और ऋषिवर घेरण्ड का भी यही कथन है। यथा :—

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाण: सदाघट:।
योगानलेनसंदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्।।

अर्थात्— मिट्टी के कच्चे घट में जल भर दिया जाय तो वह गल कर नष्ट हो जायगा। परन्तु यदि घट को पका कर जल भरें तो नहीं गलेगा, न नष्ट ही होगा। इसी प्रकार जीव के अपरिपक्व शरीर के विषय में समझना चाहिए। वह शरीर योगाग्नि के द्वारा ही परिपक्व हो जाता है। इसीलिए शरीर को परिपक्व करने के लिए योगाभ्यास आवश्यक होता है।

इस शरीर को मिट्टी के कच्चे घड़े से उपमित किया गया है। जैसे जल भरने से कच्चा घड़ा गल कर नष्ट हो जाता है वैसे ही योगाग्नि के बिना अपरिपक्व शरीर भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। अमृतनादोपनिषत् के अनुसार जैसे स्वर्णादि धातुओं का मल तपाने के दूर हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त मल प्राणायाम आदि क्रियाओं के विधिपूर्वक करने से नष्ट हो जाता है।

मुद्राओं का अभ्यास भी देह और मन, बुद्धि को स्थिर व सबल बनाने के लिए किया जाता है। घेरण्ड संहिता में मुद्राओं के स्वरूप प्रकार और परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। ऋषि कहते हैं—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।
विपरीकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।।

अर्थात्— महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनि, वजाखो, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शांभवी पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशनी, काकी, मातंगी ओर भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं। यह सभी योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाली हैं।

यह मुद्राएँ अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि योगिजनों ने इन्हें प्राणायामों और योगासनों से भी अधिक महत्व दिया है। योगासनों से जहाँ शरीर का अस्थि-समूह दृढ़ होता है, वहाँ मुद्राओं की गोपनीय क्रियायें कुण्डलिनी शक्ति को जगाने और चक्रवेध के लिए बड़ी उपयोगी रहती हैं।

योग-शास्त्र और शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में ७२ हजार नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है यही नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न भागों और घटकों का चालन करती रहती है। इन्हीं से सारे शरीर को जीवनी-शक्ति मिलती रहती है। इनमें से अनेक नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं जिन्हें केवल योगीजन ही योगाभ्यास के द्वारा जान पाते हैं।

मुद्राओं का अभ्यास इसी सूक्ष्म तथा स्थूल नाड़ी-जाल को सशक्त बनाता है, किन्तु यह मुद्रा-अभ्यास भी आसन प्राणायाम आदि के अभ्यास के समान किसी अनुभवी सद्गुरु योगी के निर्देशन में ही करना चाहिए। साधक जब ऐसा करता है तभी मुद्राओं का अभ्यासय उसकी कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके इष्ट की प्राप्ति कराया करता है।

कहते हैं पार्वती के पूछने पर भगवान शङ्कर ने भी उनसे कहा था कि मुद्रायें योगियों के लिए प्रसन्नता और आनन्द प्रदान करने वाली होती हैं, लेकिन इनकी क्रियाओं को दृढ़ प्रतिज्ञ, विरक्त, संयमी, आत्मज्ञानी और जिज्ञासु ही सफलता से कर पाने में समर्थ होते हैं। आइये समझें हम इन पच्चीस मुद्राओं में से पहले महामुद्रा को :—

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेघृत पदांगुलः।।
कण्ठ संकोचनं कृत्वाभ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिवामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।

अर्थात्— बाँयी एड़ी से गुद-प्रवेश को दबाये और दाँये पाँव को फैलाकर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़े और कण्ठ को सकोड़ कर भौहों को मध्य में दृष्टि लगाये रहे। यही महामुद्रा कहलाती है।

महामुद्रा तीन अन्य मुद्राओं का सम्मिलित रूप है, जिनके नाम हैं मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध और शाम्भवी मुद्रा। इसलिए महामुद्रा के पहले उक्त तीन मुद्राओं का अभ्यास सदा बैठी हुई स्थिति में ही करना चाहिए। योग चूड़ामण्युपनिषद् (६६) में इस मुद्रा के विषय में कहा है—

हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसिरत पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धवा शनै रेचये-
देतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते।।

अर्थात्— ठोड़ी को वक्ष:स्थल पर रखकर बाँये पाँव से योनि स्थान को देर तक दबाये रहे और दाँये पाँव को सीधा फैलाकर दोनों हाथों से भले प्रकार पकड़े। फिर दोनों पार्श्वों (बगलों) में श्वास भरे और धीरे-धीरे निकाले। यह सब प्रकार के रोगों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कहलाती है।

ग्रहयामल में भी इस मुद्रा का उक्त प्रकार से ही वर्णन करते हुए कहा है कि 'वाम एड़ी से योनि प्रदेश को दबाकर दांया पांव फैलाने और मुख को दोनों हाथों से पकड़ कर कण्ठ में सकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। ऐसा करने से 'यथा दण्डाहत: सर्पो दण्डाकार: प्रजायते' अर्थात् जैसे डण्डे से आहत हुआ सर्प डण्डे के समान खड़ा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति भी साहसा खड़ी हो जाती है। तब कुम्भक द्वारा रोकी हुई वायु को शनै:-शनै: निकाल दे। यह महामुद्रा होती है।

योगचूड़ामन्युपनिषत् में इस मुद्रा के अभूतपूर्व लाभ बताये हैं। 'अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीयते' इत्यादि से कहा गया है कि अधिक खाया हुआ तीव्र विष भी महामुद्रा के प्रभाव से अमृत के समान पच जाता है। क्षय, कुण्ठ, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और फिर कोई नहीं होता।

योगी की स्वाध्यशीलता

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों आदि में स्वाध्याय का विशेष महत्व दर्शाया गया है। ऋषि, मुनि और आप्तजनों द्वारा प्रणीत सभी ग्रन्थों ने इस सत्य को बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया है कि मानव जीवन के चार पुरुषार्थं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है। आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं वरन भौतिक उन्नति में भी स्वाध्याय की प्रवृति सबसे अधिक कल्याणक होती है। इसीलिए तो हमारे पूर्वज ऋषियों और गुरुओं के आदि गुरु परमेश्वर ने व्यक्तियों से बने मानव समाज के कल्याण के लिए उसे चार आश्रमों में विभाजित करके प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य धर्मं स्वाध्याय यानी सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन नियत किया है। इसके लिए यह भी नियम निर्धारित किया है कि ब्रह्मचारी २४-२५ अथवा तीस वर्ष की आयु तक सद्गुरुओं के आश्रम में रहकर ही स्वाध्याय करें और अन्त में आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करके सद्गुरु आदेश से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। पूर्ण विद्या प्राप्त करा दिये जाने के बाद भी आश्रम के सद्गुरु जिन्हें आजकल की भाषा में गुरुकुल का उपकुलपति या कुलपति कहकर पुकारा जा सकता है— गुरुकुल छोड़कर जाने पर जो कल्याणपद उपदेश देते थे उसकी कुछ झलक तैत्तिरीयोपनिषद् के इन कतिपय वाक्यों में निहित है—

सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्नप्रमिदतव्य। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहत्य। धर्मान्न प्रमदितव्म्। स्वाध्याय प्रवचाभ्यां न प्रभदितव्यम्।

अर्थात्— तुम धर्म का ही पालन करना, सत्य ही बोलना और स्वाध्याय में प्रमाद कभी भी न करना तथा आचार्य को दक्षिणा के रूप में वांछित धन लाकर देना और सत्य औ धर्म से कभी न डिगना तथा वेदों के पढ़ने-पढ़ाने में कभी प्रमाद अथवा चूक न करना।

इस उपनिषद् वाक्य-रचना में यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि सत्य और धर्म के धारण में प्रमाद न करने के साथ स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात विशेष रूप से दोबार दुहराई गई है। इसका अर्थ यही है कि स्वाध्याय का जीवन के उत्थान में बहुत आवश्यक आश्रय रहता है।

उपनिषद् के ऋषि का स्वाध्याय से तात्पर्य वेद, वेदांगों और आप्त-ऋषियों की रचनाओं के पठन-पाठन से ही है। ज्ञान को उपलब्धि सद्ग्रन्थों के पठन-पाठन से ही होती है और सद्ग्रन्थों का यह उपलब्ध ज्ञान ही मनुष्य की मुक्ति का साधन बनता है। स्वयं भगवान वेद का कथन है—

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।

अर्थात्— ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और यह ज्ञान प्राप्त होता है निरन्तर के स्वाध्याय से जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

योग-दर्शन में भी भगवान पतञ्जलिदेव ने समाधि लाभ हेतु योग साधकों के लिए स्वाध्याय पर विशेष बल दिया है। द्वितीय साधन पाद के प्रारम्भ में ही क्रियायोग की परिभाषा में उन्होंने—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणधानानि क्रियायोगः।

सूत्र की रचना करके स्वाध्याय को तप और ईश्वर प्रणिधान की समानता में ही ला खड़ा किया है। भगवान व्यासदेवजी ने इसी सूत्र की व्याख्या में स्वाध्याय के अर्थ में प्रणव आदि का पावन जप करते हुए मोक्ष आदि के मार्ग-दर्शक शास्त्रों का अध्ययन भी 'स्वाध्याय बतलाया है। यथा—

स्वाध्याय प्रणवादि पवित्राणां न यो मोक्ष शास्त्रध्ययनं वा।

श्री व्यासजी ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि मन को एकाग्र करने में प्रणव जप और शास्त्रों का स्वाध्याया बड़ा सहायक रहता है। इसी साधन पाद के ३२ वें सूत्र में भी जहाँ नियमों का उल्लेख किया गया है वहाँ स्वाध्याय को भी आवश्यक रूप से शामिल कर लिया गया है। यथा—

शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

यानी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, नियम कहलाते हैं।

इसी दूसरे पाद के ४४ वें सूत्र में तो और भी स्पष्टता से स्वाध्याय से अलभ्य लाभ के रूप में साधक को देवों ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषों का सहयोग मिलता है। ऐसा भगवान पतंजलि ने स्पष्टता से उल्लेख किया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

स्वाध्यात् इष्ट देवता सम्प्रयोगः।

व्यास भाष्य के अनुसार सूत्र का अर्थ है- देवता, ऋषि और सिद्धगण स्वाध्यायशील को दर्शन देने जाते हैं और कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी सूत्र इस सत्य के द्योतक है कि स्वाध्याय के महत्व को योगदर्शनकार ने समाधि-लाभ के प्रयोजन के लिए अपने योग-दर्शन में प्रमुख स्थान दिया है तथा योगदर्शन के सूत्रों की व्याख्या करने वाले विद्वानों ने भी योगियों और योगमार्ग के साधकों को परामर्श दिया है कि वे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को सतत् बनाये रखें और इस दिशा में कभी भी उपेक्षा या प्रमाद वृत्ति को न अपनायें। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं किन्तु गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में पहुँचकर भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति तब तक कल्याणकारी ही रहती है जब तक कि वे पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त कर लेते।

आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में स्वाध्याय की गणना दैवी सम्पदा में की है। यथा—

अभयं सत्व संशुद्धिः ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जव।।

अर्थात्— अभय, मनः शुद्धि, ज्ञाननिष्ठा, दान, दम, तप और स्वाध्याय दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के लक्षण हैं—

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन के उन्नयन में और समाधिसिद्धि में स्वाध्याय का अत्यधिक महत्व है इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक जीवन जीने वालों को सतत् स्वाध्यायशील बने रहने का परामर्श दिया है।

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वाध्याय का अर्थ जहाँ सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन है वहाँ इसका दूसरा अर्थ स्व-अध्याय यानी स्व का निरीक्षण करना भी है। आत्म-चिन्तन भी इसे कहा जा सकता है। योग-मार्ग और आध्यात्मिक मार्ग के साधकों के लिए यह आत्म-निरीक्षण भी समय-समय पर आवश्यक है कि वे साधना के पथ में कितना आगे बढ़े हैं अथवा कितना पीछे हटे हैं? जीवन और जीवन के व्यावहारिक पहलू में सत्वगुण अधिकाधिक समाहित हुआ है या नहीं? आसुरी वृत्तियों का स्थान दैवी वृत्तियाँ ले पाई है या नहीं? इत्यादि चिन्तन भी स्वाध्याय की परिभाषा में आता है। आत्मचिन्तन से ही मनुष्य को वह आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी परिसमाप्ति समाधि अथवा कैवल्य पद प्राप्ति रूप में जाकर होती है। सद्गुरुओं ने इसीलिए स्वाध्यायशील बने रहने के लिए कल्याणपथ के जिज्ञासुओं को सदैव प्रेरित किया है। स्वाध्याय चाहे शास्त्रों का हो या आत्मा का दोनों ही दृष्टियों से यह मानव जीवन के परिष्कार, परिमार्जन और उत्थान का मुख्य आधार बनता है। अतः साधकों को सदैव स्वाध्यायशील बने रहना चाहिए।

क्लेशनिवृत्ति का साधन योग

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

('वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष' सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार और संकारों से वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है। इसकी निवृत्ति का साधन यदि कोई हो सकता है तो वह केवल योग ही हो सकता है। इसी सत्य सिद्धांत को समझाया है प्रस्तुत लेख में श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी ने।)

— सम्पादक

हम इससे अपने पहले लेखों में यह भली प्रकार से समझा चुके हैं कि हमारा दृष्टादृष्ट जन्म सम्वेदनीय कर्माशय क्लेशमूलक है। कर्माशय को जन्म देने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि पाँच क्लेश ही हैं। इन पाँचों क्लेशों की जननी अविद्या है जिससे मनुष्य के जन्म-मरण का चक्र बराबर चलता रहता है। हजारों उपाय करने पर भी जीव इस घोर संकट से निकल नहीं पाता। वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष के सिद्धान्तानुसार वृत्तियों से संस्कार एवं संस्कारों से वृत्तियों का चक्र अहर्निश, निरन्तर चलता रहता है। इसकी निवृत्ति का यदि कोई साधन हो सकता है तो वह केवल मात्र योग ही है।

भगवान पतञ्जलि देव ने योग ही परिभाषा करते हुए योग-दर्शन के आरम्भ में ही ''योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'' कहकर चित्तवृत्ति निरोध को ही योग बताया है। बहुत से लोग चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों को रोकना समझ बैठते हैं किन्तु यथार्थ में अर्थ यह नहीं है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है 'चित्तवृत्तिनाम् नितरांरोधः निरोधः।'' अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध का अभिप्राय चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन ही है। यदि हमारे मन में वृत्तियाँ बनी रहती हैं, तो वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ यह चक्र चलता ही रहेगा। हमारा चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है और यह चित्त जैसी-जैसी स्थितियों में रहता है वैसे-वैसे ही वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता चला जाता है। योगश्चित्त वृत्ति निरोधः इस सूत्र पर भाष्य में श्री व्यासदेवजी ने चित्त को पाँच भूमिकाओं में बाँट दिया है जो हैं, क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, और निरुद्ध। इन सभी भूमिकाओं में अपने गुणात्मक विभाग के अनुसार चित्त बटा रहता है। कहीं पर सतोगुण है तो कहीं पर रजोगुण है और कहीं पर तमोगुण की प्रधानता रहती है। जब कहीं सतोगुण चमक उठता है तो कालान्तर में वहीं चित्त समाधि के बल से निरुद्ध हो जाया करता है। मूढ़ावस्था के चित्त में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण और सतोगुण गौड़ हो जाया करते हैं। क्षिप्तावस्था के चित्त में रजोगुण की प्रधानता हो जाती है और तमोगुण सतोगुण गौड़ हो जाते हैं विक्षिप्ता अवस्था के चित्त में सतोगुण प्रधान हो जाता है और रजोगुण व तमोगुण गौड़ हो जाते हैं। एकाग्रावस्था के चित्त में रजोगुण और तमोगुण न की बराबर रहते हैं सतोगुण सर्वथा दैदीप्यमान होकर चमक उठता है। इन चारों स्थितियों में से चित्त जैसी-जैसी भूमिकाओं से निकलता है वैसे-वैसे ही अविद्याजनित वृत्ति, संस्कार चक्र उदय करती रहती है। मूढ़ावस्था का चित्त अन्धकार प्रधान मूढ़ वृत्ति संस्कार चक्र को बनाता है। क्षिप्तावस्था का चित्त सतोगुण प्रधान तथा एकाग्रावस्था का चित्त उज्ज्वल सतोगुण प्रधान दैविय वृत्ति संस्कार चक्र का कारण बनता है। केवल मात्र निरोधावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें जाकर के सभी प्रकार के वृत्ति-संस्कार चक्रों का विलय हो जाया करता है। भगवान पतंञ्जलिदेव ने योगदर्शन में इसी कारण योगश्चिवृत्ति निरोधः जैसे सूत्र का निर्माण किया। हमारे सभी धर्माचार्यों और व्याख्याताओं ने निरोधः समाधि और समाधि समतावस्था-जीवात्म परमात्मनः कह करके समाधि को ही माया के बीच से परे निर्बीज का रूपक दिया है। किन्तु भगवान व्यासदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग बतलाया है। उसका कारण केवल मात्र यही है कि अग्रसर हो जाता है, इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि भी वृत्तियों के उपशमन की एक सीढ़ी है। योग-दर्शन के साधनपाद में दृश्य को भोग और अपवर्ग का दाता माना है। यथा:—

प्रकाश क्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रिमात्मकंभोगापवर्गार्थ दृश्यम्।

अर्थात् सतोगुण-रजोगुण और तमोगुणात्मक चित्त एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश यह पाँचों महाभूत और पंचमहाभूतों की नासिका जिह्वा, आँखें, त्वचा और कर्णेन्द्रिय आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रिय दृश्य इन सब के समुच्चय से बनता है और वह दृश्य ही एक साधक के लिए भोग और अपवर्ग का दाता हुआ करता है। जो लोग इस दृश्य को पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के बाहरी भाग से देखते रहते हैं वे लोग भोगों के भोक्ता बने रहते हैं एवं वृत्ति संस्कार-चक्र को बराबर बनाते रहते हैं। आँख रूप को देखती हैं। रूप को देखकर सुन्दर रूप है तो उसमें आसक्ति पैदा कर लेती हैं। कुरूप है तो घृणा पैदा कर लेती है। इस प्रकार अच्छे और बुरे संस्कार दोनों ही जन्म-मरण के कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार रसना अच्छे पदार्थ ग्रहण

करती है तो राग को बढ़ा लेती है और वही रसीले पदार्थ कटु तिक्त व किसी अन्य प्रकार का अस्वाद पा लेती है तो उनमें द्वेष पैदा कर लेती है। द्वेष क्लेश मूलक कर्माशय को बना देता है। इसके अतिरिक्त यही सारे दृश्य जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखें समझे और सुने जाते हैं। यानी इन सबको हम जब इन्द्रियों के भीतरी भाग से देखते और सुनते हैं तो यही वृत्ति संस्कार चक्र जिसको बाहर से देख सुन करके हमने जन्म-मरण को खरीद लिया था वह अब सम्प्रज्ञात योग का रूप धारण कर लेता है जिसका संकेत अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रकार करते हैं:

या निशा सर्व भूतानाम् तस्यां जाग्रर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनैः

अर्थात् संसार के सब प्राणियों की जो रात है मुनि लोग उसमें जगते रहते हैं और जिसमें मुनि लोग जागते हैं उसमें संसार के सभी लोग सोते रहते हैं। एक प्रकार से इन्द्रियों के भीतरी भाग से दृश्य को देखने का अर्थ सम्प्रज्ञात योग है। अन्तर्दृष्टि से दृश्य के देखने में वृत्तियों का उपशमन होता रहता है, जबकि बाह्य दृष्टि से देखने में वृत्ति और संस्कार-आशय का उत्तरोत्तर जनन होता रहता है। क्लेश बनते रहते हैं और मनुष्य जन्म और मरण के चक्र में पड़ा रहता है। यदि साधक अर्न्तजगत में प्रवेश करके अर्न्तजगत का दृष्टा बन जाता है तो वहाँ पर वृत्तियाँ संस्कारों की जन्मदात्री न बन करके क्षीण होती चली जाती हैं इससे संप्रज्ञात समाधि में क्लेशों की तन्वीकरण की स्थिति आ जाती है और धीरे-धीरे फिर यह स्थिति अपवर्ग का जनक बन जाती है। भगवान पतंञ्जलिदेव अपने एक सूत्र में कहते हैं—

ध्यान हेयास्तद वृत्तयः

अर्थात् यह सारी की सारी वृत्तिऐं ध्यान के द्वारा हटाई जा सकती हैं। ध्यान द्वारा अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा इनका तन्वीकरण हो जाने के बाद मनुष्य मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ जाता है। पढ़िये उपरोक्त सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ—

'क्लेशों की जो स्थूल वृत्तिया हैं उनका तप स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा तन्वीकरण हो जाने पर उन्हें प्रसंख्यान बल से ध्यानयोग के द्वारा हटाया जा सकता है। ध्यानाभ्यास के द्वारा जितना-जितना उनका सूक्ष्मीकरण हो जायगा उतनी-उतनी वे सब दग्ध-बीज दशा की ओर बढ़ती चली जायेंगीं और बाद में समाधि के बल से बिल्कुल निर्बीजता को प्राप्त हो जायेंगी। अतः साधकों को दृश्य के प्रति अपनी अन्तर्दृष्टि को बढ़ाना चाहिए।

निष्काम कर्म

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

गहना कर्मणो गति:

('बड़ी गहन गति होती है कर्म की।' इस गहन गति को जान लिया जिसने उसने छुटकारा पा लिया भव-बन्धन से। श्रद्धेय गुरुदेवजी इसी मर्म को प्रसमाण समझाने का प्रयास कर रहे हैं अपने इस लेख में।

निष्काम-भाव से कर्मयोग की प्रवृत्ति बना लेना ही भव-बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है, यही सार है गुरुवर के इस लेख का जिसे 'सिद्धयोग के पाठकों को हृदयङ्गम करना है।)

— सम्पादक

मनुष्य के जीवन में कर्म-बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं, उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्मफल भोगते हुए जिन-जिन प्राणियों का मेल-मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये-नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल-भोग के लिए यहाँ बार-बार जन्म लेना पड़ता है तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनके प्रति प्यार, राग द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार-बार जन्म लेता और बार-बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान् का उपदेश है :—

कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समा: एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात् मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्मजाल के ऊपर उठ जायेगा। और कर्म फलभोग के लिए उससे लिपायमान नहीं होगा।

प्रकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म-बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार-बार आज्ञा प्रदान की है। भगवान का कथन है—

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्व: पूर्वतरं कृतम्।

अर्थात्— हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि-मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽयत्र मोहिता:।
तत्तेकर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात।।
कर्मण्यो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मण:।
अर्कमश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गति:।।
कर्मण्यकर्म पश्येदकर्माणि च कर्मण्य:।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्त: कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्— कर्म क्या है? और अकर्म क्या है इस बात का निकर्ष निकालने के लिए बड़े-बड़े विद्वान भी संशयग्रत होकर मोहित हो गये हैं। इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जायेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान हैं जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कार्य सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है:

विहाय कामान्य सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमविगच्छति।।

अर्थात्— मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निरहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने स्पष्ट कह डाला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिर्मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्— हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों डालते हो। इस प्रकार से आप मिले-जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी कर रहे हैं। इसलिए निश्चय करके यथार्थतः सिद्धान्त की बात कहो, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन का यह मनोभाव समझकर भगवान ने उसे उत्तर दिया—

हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस कर्म सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा कर्म योगियों को कर्मयोग के द्वारा। संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्म को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता। और जो लोग कर्म-मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग भी सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उससे कर्म करवा लेती हैं। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयम न करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्— दम्भी कहा जाता है। और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शङ्का छोड़कर के बिल्कुल निश्चित मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्व की बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

अर्थात्— जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ यह है मनुष्य नेकी तो करे फलेच्छा कुएँ में डाल दें अर्थात् दान पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्— जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं वह कोई भी कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भार प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म-लेप लागू नहीं होता। सूत्र है :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द. १/५०

अर्थात्— ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते हैं। इसलिए जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिए? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकरतदनुवर्तते।।

अर्थात्— महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप में रखा, और कहा :—

अर्थात् हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिए। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रक्खे, यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपना कर्म करते हुए निष्कर्मता को ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है जो मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बनाकर भव-चक्र से छुटकार दिला देती है।

अभ्यास योग की साधना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

('चाहे पारलौकिक जीवन की उन्नति के प्रयत्न हों या लौकिक जीवन की उन्नति के, सभी में श्रम, साधना और यत्न की आवश्यकता रहती है और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए निरन्तर का अभ्यास अनिवार्य है, इसलिए अभ्यास की साधना का अपना महत्व है। योग–साधना में भी अभ्यास–योग के इस महत्व को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। यही विश्लेषण किया है पूज्य श्री गुरुदेव जी के प्रस्तुत लेख में। आशा है पाठक इससे समुचित दिशा–दर्शन पा सकेंगे।)

— सम्पादक

योग के विविध अंगों में अभ्यास योग का अपना विशेष महत्व है। बिना अभ्यास योग की साधना के कोई भी अन्य योगाङ्ग साधक को इष्ट की उपलब्धि कराने में सहायक और समर्थ नहीं हो पाता है। जपयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, नादयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी का आधार अभ्यास योग ही होता है। विना अभ्यास योग की साधना के साधक इनमें से किसी भी योगिक विधा को अपनाकर समाधि लाभ में सक्षम नहीं हो पाता। समाधिलाभ की क्षमता अभ्यास योग को क्रियात्मक रूप से अपना लेने से ही हासिल हो पाना मुमकिन होता है। योग–दर्शन कार भगवान पतञ्जलिदेव ने योग की परिभाषा के रूप में जहाँ 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध' का उपयोगी सूत्र हमारे सामने रखा वहीं समाधि पाद के सूत्र संख्या १२ में यह भी बड़ी स्पष्ट से बता दिया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए जितने भी अवलम्बन हैं उन सबकी दृढ़ता व स्थिरता अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही हो सकती है यथा—

अभ्यास वैराग्य तन्न निरोध:

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त में वृत्तियों का उदय होना— चित्त का अपना स्वाभाविक धर्म होता हैं। अत: उनका सर्वथा उन्मूलन तो असम्भव ही रहता है। वृत्ति निरोध का अर्थ यहाँ इतना ही है कि जो वृत्तियाँ साधक को सांसारिक विषय–वासनाओं की ओर ले चलने को प्रेरित करें उन्हें वैराग्य की भावना द्वारा अग्राह्य और अकल्याणकारी समझ उनसे विमुख होकर कल्याणकारी श्रेयष्कर मार्ग की ओर ले चलने वाले वृत्ति प्रवाह का अनुसरण साधक करें। इसी अभिप्राय से उपर्युक्त सूत्र में वैराग्य शब्द का नियोजन किया गया है। वैराग्य की भावना का यह प्रवाह भी साधक के चित्त अथवा की अनिवार्यता समझते हुए वैराग्य के साथ सूत्र में अभ्यास शब्द भी जोड़ दिया गया है। अभ्यास के बिना कोई भी क्रिया— चाहे वह मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक किसी भी प्रकार की क्यों न हो अपना स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती— जैसा कि साधनपाद के सूत्र संख्या १३ में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए स्वयं भगवन पतञ्जलि देव कह रहे हैं :

तत्र स्थिति यत्नो अभ्यास:।

अर्थात् (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति विषयक यत्न का नाम ही अभ्यास है। यह अभ्यास भी यदाकदा नहीं किन्तु दीर्घकाल तक बिना किसी रुकावट के चलता रहना चाहिए। यह भी योगदर्शनकार ने सूत्र संख्या १४ में स्पष्ट किया है। यथा— 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमि:।'

अर्थात्— वही अभ्यास जो दीर्घकाल तक आदर के साथ आसेवित होता है दृढ़भूमि– यानी दृढ़ता और स्थैर्य को प्राप्त होता है।

आदर के साथ आसेवित होने का अर्थ होता है, श्रद्धा के साथ अनुष्ठान का प्रयत्न एक लम्बे समय तक नियमित रूप से करते रहना।

योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में योगदर्शन के इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। अर्जुन के यह पूछने पर कि जो मन स्वभात: चंचल और दुर्निग्रही हैं उसे स्थिर करने अथवा अपने वश में करने का उपाय क्या है? भगवान का स्पष्ट सा उत्तर यही रहा कि पार्थ! तेरा प्रश्न सर्वथा उचित है, मन अथवा चित्त बड़ा ही चंचल और दुर्निग्रही है किन्तु—

अभ्यासेन तु वैराग्येण च गृह्यते

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य की साधना द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।

जगदात्मा का यह उत्तर भी अभ्यासयोग की साधना के महत्व का परिचायक है। लोक व्यवहार में भी यही देखने में आता है कि जिस विद्या अथवा कला में जिसने भी जो विशेष योग्यता प्राप्त की हुई है उसका मुख्य कारण उसका अपना अभ्यास ही रहा होता है। नृत्यकला, संगीत वाद्यकला आदि में भी जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार होते हैं वे नित्य नियमित दीर्घकालीन अभ्यास साधना को अपनाकर ही यश और कीर्ति के भागी बन पाते हैं। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुहम्मद गोरी का वध अपने को बन्दी बनाये जाने एवं नेत्र ज्योति चले जाने के बाद भी

प्रवाह भी साधक के चित्त अथवा की अनिवार्यता समझते हुए वैराग्य के साथ सूत्र में अभ्यास शब्द भी जोड़ दिया गया है। अभ्यास के बिना कोई भी क्रिया— चाहे वह मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक किसी भी प्रकार की क्यों न हो अपना स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती— जैसा कि साधनपाद के सूत्र संख्या १३ में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए स्वयं भगवन पतञ्जलि देव कह रहे हैं :

तत्र स्थिति यत्नो अभ्यासः।

अर्थात् (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति विषयक यत्न का नाम ही अभ्यास है। यह अभ्यास भी यदाकदा नहीं किन्तु दीर्घकाल तक बिना किसी रुकावट के चलता रहना चाहिए। यह भी योगदर्शनकार ने सूत्र संख्या १४ में स्पष्ट किया है। यथा— 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः।'

अर्थात्— वही अभ्यास जो दीर्घकाल तक आदर के साथ आसेवित होता है दृढ़भूमि- यानी दृढ़ता और स्थैर्य को प्राप्त होता है।

आदर के साथ आसेवित होने का अर्थ होता है, श्रद्धा के साथ अनुष्ठान का प्रयत्न एक लम्बे समय तक नियमित रूप से करते रहना।

योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में योगदर्शन के इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। अर्जुन के यह पूछने पर कि जो मन स्वभात: चंचल और दुर्निग्रही हैं उसे स्थिर करने अथवा अपने वश में करने का उपाय क्या है? भगवान का स्पष्ट सा उत्तर यही रहा कि पार्थ! तेरा प्रश्न सर्वथा उचित है, मन अथवा चित्त बड़ा ही चंचल और दुर्निग्रही है किन्तु—

अभ्यासेन तु वैराग्येण च गृह्यते

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य की साधना द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।

जगदात्मा का यह उत्तर भी अभ्यासयोग की साधना के महत्व का परिचायक है। लोक व्यवहार में भी यही देखने में आता है कि जिस विद्या अथवा कला में जिसने भी जो विशेष योग्यता प्राप्त की हुई है उसका मुख्य कारण उसका अपना अभ्यास ही रहा होता है। नृत्यकला, संगीत वाद्यकला आदि में भी जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार होते हैं वे नित्य नियमित दीर्घकालीन अभ्यास साधना को अपनाकर ही यश और कीर्ति के भागी बन पाते हैं। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुहम्मद गोरी का वध अपने को बन्दी बनाये जाने एवं नेत्र ज्योति चले जाने के बाद भी जिस शब्द वेधी बाण से किया वह उनकी अभ्यास योग की साधना का ही परिणाम था। यह अभ्यास योग जड़मति को भी महा बुद्धिमान और प्रज्ञावान बना देता है। हिन्दी साहित्य के एक कवि की निम्नांकित उक्ति इसी संबंध में बड़ी ही उपयुक्त और पठनीय है—

करत–करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत–जात ते, सिल पर परत निसान।

कहते हैं संस्कृत का महा पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए वोपदेव नामक एक युवक ने जिसे उसके माता-पिता ने विद्या और ज्ञान के अर्जन में यथोचित रुचि न लेने के कारण घर से निकाल बाहर किया था। तब उसने पठन-पाठन में गहरी रुचि लेने का संकल्प लिया जब किसी कुए पर पनघट के पत्थर में रस्सी के घिसावट से पड़े गड्ढों को देख लिया। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि जब मुलायम-सी रस्सी की घिसाब से पाषाण की शिला भी कट सकती है तब मेरी जड़मति भी नित्य के पठन-पाठन के अभ्यास से तीव्र क्यों नहीं हो सकती? हुआ भी ऐसा ही। पढ़ने-लिखने में उसने अभ्यास योग का आश्रय लिया, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में वह अपने समय के धुरन्धर विद्वानों में गिना जाने लगा।

यह भी प्राय: सबकी जानकारी में है ही कि सरकसों में जंगली पशु भी अपने संचालक के संकेत पर अनुशासनबद्ध रहकर आश्चर्यजनक कला-कौशल दिखलाकर दर्शकों की प्रसन्नता के पात्र बन जाया करते हैं। जंगली पशुओं के इस प्रकार के आश्चर्यजनक प्रदर्शनों की पृष्ठ भूमि में उनको उनके संचालक द्वारा कराया जाने वाला अभ्यास ही होता है। नियमित रूप से दीर्घकालीन अभ्यासयोग की साधना से जब जंगली पशु भी अनुशासित मानव के समान कार्यरत होने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं तब सम्भवत: चिन्तनशील मानव इस साधना को सम्बल बनाकर वह सब कुछ क्यों नहीं प्राप्त कर सकता— जिसे प्राप्त कर लेने का दृढ़ संकल्प लेकर वह कार्य क्षेत्र में उतर पड़ा हो।

योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवत् गीता में अनेक जगह अभ्यास योग की श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। छठवें अध्याय के श्लोक संख्या ४४ में वे यह बता रहे हैं कि अभ्यास योग की साधना का सुफल साधक न केवल इस जन्म में प्राप्त करता है बल्कि जन्मान्तर में भी यह साधना उसे फलदायी बन जाया करती है। पढ़िए गीता का वह श्लोक जिसमें अभ्यास योग की महत्ता का वर्णन आया है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

अर्थात्— जो जिज्ञासु योगी-योगमुक्त हो कर अगला मानव जन्म प्राप्त कर पाते हैं। वे अपने अति बलवान पूर्व योगाभ्यास के बल पर पुन: पिछले जन्म में छोड़ी गई योगसाधना से संयुक्त हो जाते हैं।

अभ्यास योग की साधना में साधक को यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि उसका अभ्यास ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास से वांछित फल की प्राप्ति नहीं करा सकता। (श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्) भगवान श्रीकृष्ण का यह कथन है अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है इस सिद्धान्त की पुष्टि करता। कि अभ्यास योग की साधना में ज्ञान का सामञ्जय भी रहना ही चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास तो पारमार्थिक लाभ से वंचित रख कर भौतिक लाभ के कटीले जंगलों में ले जाकर साधक को भटकान में उलझा सकता है। ऐसी उलझनों से

साधक बचते हुए अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता चले इसीलिए ज्ञान और अभ्यास का सामञ्जस्य रखना श्रेयष्कर बताया गया है। श्रीमद्‌भगवद् गीता के १२ वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक भी इस सन्दर्भ में विशेष रूप में पठनीय है।

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिप्यसि मय्येव
अत: ऊर्ध्वे न संशय:।।
अथ चित्तं समाधातुं न
शक्रोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन त तो
मामिच्छाप्तुं धनंजय।।

(गीता १२/८-९)

भगवान समझाते हैं, हे अर्जुन! यदि मुझ विश्वरूप ईश्वर में अपने मन और अपनी बुद्धि को स्थिर कर लेगा तो तू निस्सन्देह रूप में मुझको ही प्राप्त होगा। यानी मुझ में ही निवास करेगा।

यदि तू मेरे भाव में अपने मन और बुद्धि को लगाने में समर्थ नहीं हो सकता तो तू अभ्यास योग का आश्रय लेकर ऐसा करने की क्षमता प्राप्त करें। ऐसे अभ्यास योग के अवलम्बन से तेरा चञ्चल मन अवश्य ही मेरे से समाहित हो जायगा।

ऐसा महिमा है अभ्यास योग की जिसे अपनाने का दिशाबोध स्वयं भगवान ने अर्जुन के माध्यम से सारे संसार के बुद्धिजीवी समाज को दिया है।

अत: इसका अनुपालन नियमित रूप से उन सभी को करना चाहिए जो परमार्थ लाभ और कीर्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए किसी भी यौगिक विधा अथवा लोक-कल्याणकारी कला को प्राप्त करना चाहते हैं।

सिद्ध-धाम सवांई

श्री 'दिव्य'

सिद्धगुफा की उस धरती को, आओ करें प्रणाम।
जिनके कण-कण में रमते हैं, योगेश्वर प्रभु राम।।
आत्मलीन मन हो जाता है, मिट जाता दुख-दाह।
यहाँ योग की गंगा का, बहता है सतत् प्रवाह।।
शक्तिपात के स्रोत सिद्धियों के दाता अभिराम।
पत्ता-पत्ता बोल रहा, 'जय' योगेश्वर प्रभु राम।।
भस्मीभूत यहाँ हो जाते, विषय, वासना, काम।
सिद्धगुफा की पुण्य धरा को, आओ करें प्रणाम।।

श्री प्रभुजी का ..... 'दिव्य जन्म'

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(प्रस्तुत लेख में श्री महाप्रभुजी के दिव्य जन्म पर प्रकाश डालते हुए पूज्य चरण श्री गुरुदेव जी महाराज ने यह समझाते का प्रयास किया है कि उन्होंने योग धर्म के पुनरुत्थान के लिए निर्माण–काय द्वारा अपने को किस प्रकार एक सद्गृहस्थ के घर में प्रकट होकर उसे कृतार्थ करके दुष्प्राप्य योग सिद्धान्तों का विश्व में व्यापक प्रचार करने का सुयास किया।)

— सम्पादक

अखण्ड ब्रह्माण्ड–नायक सद्गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज अमृतसर की पावन भूमि में अवतरित हुए। अमृतसर एक ऐसा पवित्र नगर है जो परम–दिव्य है एवं सिद्धानुग्रह भाजन रहा है। इस नगर में सर्व–सामर्थ्यवान अणिमादिक ऐश्वर्यों के मालिक किसी न किसी महापुरुष का अवतरण होता ही रहा है। गुरुदेव नानक एवं गुरु गोविन्द सिंह आदि का चिरकाल तक यह निवास–स्थान बना रहा है। उन्हीं सन्तों के कृपा स्वरूप यहाँ पर बहुत ही दर्शनीय स्वर्ण मन्दिर— गुरुद्वारा— बना हुआ है। इसी पवित्र नगरी में सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण मेरे गुरुदेव योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज का प्राकट्य हुआ। महाप्रभु श्री गुरुदेव जी क्या हैं और उनकी क्या शक्ति है, यह सब विषय वर्णनातीत है। श्री प्रभुजी के पिताजी का नाम पूज्य–चरण श्री पण्डित गण्डाराम जी था। श्री पं. गण्डाराम जी ज्योतिष शास्त्र के माने हुए अद्वितीय विद्वान थे। उनके पिताजी पण्डित सांईदास जी इस विद्या में ख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी ज्योतिष विद्या एवं अपनी मानस शक्ति के आधार पर अनेकानेक व्यक्तियों का भला किया था। इसी पवित्र कुल में पं. गण्डारामजी के शुभ गृह में श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने जन्म लिया। श्री प्रभुजी के जन्म से पहले ही अनेक प्रकार के मङ्गल–सूचक चिह्न दिखलाई देने लग गये थे। श्री माता भागवन्ती अपनी गोद में हमेशा दिव्य तेज को देखती और आनन्द–विभोर बनी रहती थीं। इस प्रकार से श्री पं. गण्डारामजी भी प्रतिक्षण आनन्दमग्न रहा करते थे। घर में हर समय सुख–शान्ति और मंगल बना रहता था। श्री प्रभुजी के श्रीमती माता भागवन्ती के उदर से प्रकट होने से पहले यत्र तत्र और भी अनेक शुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे। इससे आस–पास के सभी लोग यह भली प्रकार से समझ गये थे कि किसी महापुरुष का अवतार यहाँ निकट भविष्य में सम्भव है।

संसार में यह उचित प्रख्यात है कि :—

यस्मिन देशे वसेद्योगी ध्यान–योग विचक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत पूतः किम् पुनस्तस्य बान्धवाः।।

जिस देश में कोई एक ध्यान योगी निवास करता है वह देश स्वतः ही पवित्र हो जाता है और उस योगी के भाई–बन्धु एवं कुटुम्ब–कबीले का तो कहना ही क्या। यह लोकोक्ति एक साधारण ध्यानाभ्यासी व्यक्ति के लिए कही गयी है किन्तु जहाँ पर परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध परम योगेश्वर स्वयं प्रकट हों उस देश एवं भाई–बन्धुओं के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है। श्री आनन्दकन्द प्रभु जी इन्हीं विशेष लक्षणों को लेकर इस भू मण्डल पर अवतरित हुए थे। निश्चय ही इनके उद्भव के रहस्य को सहज में समझाना बहुत कठिन सा ही है। अतः केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि हिमालय से आने के बाद उन्होंने अनेक जगहों पर एक ही साथ जो निर्माणकाय किये उनमें से अमृतसर में पं. गण्डाराम जी के घर में प्रकट होना अपना विशेष महत्व रखता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी ने विक्रम सम्वत् १९४५ चैत्र शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार तदनुसार सन् १८८८ई. में पं. बृहस्पतिवार तदनुसार सन् १८८८८ ई. में पं. गण्डाराम जी के घर में जन्म ग्रहण कर सभी को कृतार्थ किया। इस वर्ष चैत्र शुक्ला रामनवमी विक्रम सम्वत् २०४५ तदनुसार ईस्वी सन् १९८८ को शत वर्ष पूरे हो गये हैं। अर्थात्— अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व इसी रामनवमी के पावन दिवस को श्री प्रभुजी ने अपने आपको प्रकट किया था, जिनकी कृपा के फलस्वरूप देश और विदेश में सर्वत्र योग–प्रचार की धूम मच गयी।

यहाँ इस लेख में हमने केवल मात्र उन दीनबन्धु जी के जन्म ग्रहण करने की सूचना मात्र दी। जन्म ग्रहण करने के बाद जिस–जिस प्रकार की बाल–लीलायें उन्होंने की एवं मङ्गलमय ज्ञान और योग का उदय कैसे होता रहा यह सब हम आगे के अपने लेखों में क्रमशः बतलाते रहेंगे।

— चैत्र शुक्ला १५ सं. २०४५

एक और अद्भुत घटना

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव ने अपने इस लेख में अपने आराध्य प्रभुवर श्री रामलालजी की करुणामय लीलाओं में से कुछेक का दिग्दर्शन कराने की कृपा की है ताकि हम सभी गुरुकृपा के महत्व से परिचित हो सकें।)

— सम्पादक

एक और अद्भुत घटना जो श्री प्रभुजी के पावन एवं कल्याणकारी चरित्रों से सम्बन्ध रखने वाली है उसे योगेश्वर चरित्रमाला में लिखा गया हैं। लगभग सन् १९२८ के बाद श्री प्रभुजी अनवरत 'ऋषिकेश योग साधन आश्रम' में विराजमान रहा करते थे और वहाँ से वे भक्तों के विशेष आग्रह करने पर इधर-उधर के प्रोग्रामों पर यथावकाश जाया करते थे। विशेषत: पंजाब का यातायात तो प्राय: बना ही रहता था। इन्हीं दिनों शक्तिपात दीक्षाओं के द्वारा श्री कृपानिकेतन ने महापतितों का उद्धार किया और योग का सन्मार्ग दर्शाकर उन लोगों को विरक्त बनवासी बना दिया। सैकड़ों व्यक्ति आननदमग्न रहा करते थे। कितने ही तुरीय स्थिति को पाकर देहाभ्यास से शून्य होकर ध्यान मग्न होकर पड़े रहते थे। विलक्षण आनन्द का प्रवाह चल रहा था। जहाँ पर यह कृपा-प्रवाह बह रहा था वहीं श्री प्रभु जी के चरित्रों में और भी विलक्षण घटनाएँ घटित होती रहती थीं। कभी-कभी श्री प्रभुजी अपने भक्तों के क्लिष्ट संस्कारों को अपने शरीर पर लेकर भुगतान कर दिया करते थे। उनके इस रहस्य को हर व्यक्ति समझ नहीं पाता था। हमारे बड़े गुरु भाइयों में श्री मुलखराज जी महाराज और श्री गोपालनन्दजी जो उन दिनों हर समय तुरीय स्थिति में ही रहते थे। वे श्री प्रभुजी की महान कृपा के पात्र थे। श्री गंगाजी के तट से ध्यान मग्नावस्था में वे दौड़े हुए आते और श्री प्रभुजी के चरणों में लिपट जाया करते थे। श्री प्रभुजी उनके प्रेम को स्वीकार कर हमेशा उनको सम्मानित रखते थे। किन्तु एक दिन इसके बिल्कुल ही विपरीत हुआ। मुलखराज जी व ब्रह्मचारी गोपालनन्द जी अपनी आनन्दमयी अवस्था में दौड़कर श्री प्रभुजी के चरण-कमलों से लिपट गये। किन्तु श्री प्रभुजी ने उनको सान्त्वना व प्यार देने के बजाय दोनों को उठाकर परे फेंक दिया। सभी लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। श्री मुलखराज जी व श्री ब्रह्मचारी जी देहाध्यास रहित होकर पड़े रहे इस पर सभी आश्रमवासियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। श्री प्रभुजी जिन बच्चों को कभी भी अपने कण्ठ से अलहदा नहीं करते थे, आज वे उनको मिट्टी के ढेले की तरह दूर फेंक दिया है इसका क्या कारण है समझ में कुछ नहीं आ रहा था। उस दिन श्री प्रभुजी का तेज भी बहुत विलक्षण था। मुखमण्डल एक दम रक्त वर्ण का दिखलाई दे रहा था। आँखें तेज और लालिमा से झलझला रही थी। अत्यन्त विनय के साथ आश्रमवासियों ने पूछा- प्रभो आज यह आपका कैसा विलक्षण स्वरूप है? आप अपने बच्चों से हमेशा प्यार करते थे पर आज आपने उनको मिट्टी के ढेले की तरह से दूर फेंक दिया है? उस समय तो श्री प्रभुजी ने उनकी बात का कोई कोई जवाब नहीं दिया किन्तु कुछ देर बाद यथार्थ स्थिति में आकर श्री प्रभुजी ने उनको अत्यन्त आग्रह से प्रसन्न होकर बतलाया कि भाई सवांई गाँव में तुम्हारा एक भाई बाबूराम ठाकुर है, उसने आज-हत्या करने के लिए अफीम खाई है। उसका हमारे पर बहुत प्रेम था इसलिए उसके अफीम खाने का नशा इस समय हमारे शरीर में था। उसका यह कष्ट हमने इतनी देर में भोग लिया इससे वह इस आत्महत्या के संकट से बच गया है। उधर सवांई गाँव में मरने की इच्छा से अफीम खाने की प्रवृत्ति वाले बाबूराम ने देखा कि श्री प्रभुजी उसके सामने आये हुए हैं अफीम का गोला उसके हाथ से वे छीनकर स्वयं खा गये। इस घटना को ठाकुर बाबूराम के भाई ज्वाला प्रसाद आदि भी जानते हैं। स्वयं बाबूराम ने यह विलक्षण दृश्य अपने अन्य सब भाइयों को बतलाया था।

भण्डारा भरपूर

ऊपर की घटना में वर्णित ठा. बाबूराम विलक्षण सन्तसेवी सज्जन थे, श्री गुरुदेव जी के चरण-कमलों पर तन-मन से न्यौछावर थे, उनकी यही हार्दिक भावना रहती कि जीवन की घड़ी-घड़ी और पल-पल श्री प्रभुजी के चरण-चिन्तन में ही व्यतीत हो, यही इस मनुष्य जीवन का अमर फल था, उनकी दृष्टि में।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की हरे कोटि अपराध।।

अत: सन्त चरण-सेवा, दीनों पर दया और परोपकार की भावना उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी हुई थी। लोकापवाद का यक्तिंचित भी भय उन्हें नहीं था। ठा. बाबूराम की एक लड़की थी। यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हुई अत: बाबूराम के मन में लड़की की शादी की चिन्ता हर समय व्याप्त रहती थी। घर में पैसे का बहुत अभाव था। किन्तु भक्त बाबूराम युवा बेटी के विवाह की चिन्ता होते हुए भी मात्र प्रभुजी के चरणानुराग के बल पर इससे बिल्कुल

लापरवाह दिखते। लड़की का सम्बन्ध निश्चित हो गया। धीरे-धीरे विवाह तिथि नजदीक आती गई। बारात के आतिथ्य का कोई साधन दिखलाई नहीं दे रहा था। किन्तु बाबूराम की लगन प्रभु के चरणारविन्दों में लगी थी। मन में यह भावना थी कि जैसे उन कृपानिधि की इच्छा होगी वही सब होगा। मेरे कुटुम्बी भाई-बन्धु जिस प्रकार से भी समझेंगे करेंगे। कुछ और दिन इसी विचारधारा में व्यतीत हो गये। और शादी का दिन भी आ गया।

लोग बाबूराम के भोलेपन व आत्म समर्पणता को देखकर उपहास करने लगे। वे कहते थे देखें अब बाबूराम क्या करेगा और क्या उसके बाबाजी करेंगे? शादी का समय आया देख और अपने आपको साधनहीन देख कर बाबूराम यह विचार करने लगे कि मैं अब कहीं चुपचाप अन्यत्र प्रस्थान कर जाऊँ, जो कुछ होना होगा वह होता रहेगा। किन्तु चलते समय श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में प्रणाम करके चला जाऊँगा सम्भव है इसमें कुछ भविष्य के लिए शुभ हो। इसी भावना को लेकर बाबूराम श्री प्रभुजी के चरणारविंदों में पहुँचा। वे घट-घट की पहचानने वाले भक्त-वत्सल श्री प्रभुजी अपने आसन पर बैठे हुए मुस्करा रहे थे। बाबूराम को चिन्तित होते देख बोले, ''क्यों बाबूराम तुम्हारा मन अत्यन्त उदास क्यों दिखलाई दे रहा है, क्या तुम अपने मन की दारुण व्यथा हमको बतलाओगे?

श्री दीनबन्धु के ऐसे वचन सुनकर ठाकुर बाबूराम ने अपनी करुण कहानी कह सुनाई। बाबूराम की उस अनुनय-विनय को सुनकर करुणार्णव का हृदय द्रवित हो उठा। मुस्कराते हुए बोले कि बस इतनी-सी बात के लिए तुम घर छोड़कर जा रहे हो, यह लो हमारी चरणपादुका, ले जाओ और इनको भण्डारे में एक चौकी पर रख देना। भण्डारे के सामने पर्दा रखना। उसमें हर कोई व्यक्ति प्रवेश न करें। भण्डारे में रखी हुई यह चरणपादुकायें तुम्हें मनोवांछित फल देंगी, भण्डारे से जिस वस्तु की आवश्यकता तुम्हें महसूस हो निकाल लिया करना। तुम्हें सभी अभीप्सित वस्तुएँ मिलती रहेंगी। जिस दिन तुम्हारी बारात विदा हो जाये, उसी दिन बारात की विदाई के बाद हमारी चरण पादुकायें हमें लौटा जाना। बाबूराम ने श्रीअनाथनाथ जी की वाणी पर विश्वास करके ऐसा ही किया। सभी लोगों को जानकर आश्चर्य हुआ बाबूराम का भण्डारा भरपूर हो गया। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह रही कि बारात की विदाई के बाद जिस दिन चरणपादुका लौटायीं उस दिन पूर्वोपार्जित सामग्री ज्यों की त्यों शेष रही। जो लोग उपहास करना चाहते थे इस लीला को देखकर उन सभी के मुख बन्द हो गये—

जाको राखै साइयां मारि सकै नहिं कोय।
बाल न बांका हो सकै, जो जग बैरी होय।।

जिस पर यह कृपानिधि जी कृपा करते हैं वह सकल कल्याण का भाजन परम पवित्र व सुख शान्ति का धाम बन जाता है।

मेरे सर्वसमर्थ गुरुदेव और मेरा संकल्प

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(सन् १९५१ की विजयादशमी के पावन पर्व पर, जो श्री गुरुदेवजी के जन्म दिवस के रूप में हमारे सामने हैं, उचित समझते हैं कि हम गुरुदेव के उस पावन संकल्प को यहाँ उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करें जिसे उन्होंने अपने गुरुदेव जी द्वारा निर्देशित योग–प्रचार के प्रशस्त पथ को आगे बढ़ाने का संकल्प उनके जीवनकाल में ही लिया था। ''आठ योगी'' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में पूज्य श्री गुरुदेव चन्द्रमोहन महाराजजी ने इस बारे में जो लिखा है उसे पढ़िए उन्हीं के शब्दों में इस लेख में।

श्री गुरुदेव जी के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् अब यह सवाँई आश्रम से सम्बन्धित सभी शिष्यों का पावन कर्त्तव्य है कि वे अपने गुरुदेव के संकल्पों को जिन्हें वे अधूरा छोड़ गये हैं, शक्ति भर सच्चे मन से आगे बढ़ाने का प्रयास करें।

— सम्पादक

श्री सद्गुरुदेव योगयोगश्वर श्री रामलाल जी महाराज के पवित्र चरणारविन्दों में आने के पश्चात् ज्यों–ज्यों योगविद्या की महत्ता का ज्ञान मुझे हुआ तब से ही संसार में योग–प्रचार करने के भाव मेरे मन में विश्वास रहा करते थे। परम कृपानिधि जी के असीम अनुग्रह से मेरी यह इच्छा अब पूर्ण हो रही है। जिन लोगों ने उन योग–योगेश्वर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के चरण–कमलों का सान्निध्य प्राप्त किया है, वे सब परम पुण्यशाली रहे। परन्तु जो प्राणी किया हैं, वे सब परम पुण्यशाली रहे। परन्तु जो प्राणी उस महान शक्ति के केन्द्र परम प्रभु के स्थूल दर्शनों से वंचित रहे हैं तथा उनके लीला–काल के अवसर पर उपस्थित नहीं थे, उन लोगों को भी किसी प्रकार उन श्री प्रभुजी की दिव्य एवं चमत्कारिक लीलाओं का परिचय मिल सके– ऐसी तीव्र लगन भी मेरे मन में रहा करती हैं। अत: श्री प्रभुजी के लोककल्याणकारक पावन–चरित्रों को, जिन्हें मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, लेखनीबद्ध करके लोक के सम्मुख लाने को मेरा यह तृतीय प्रयास है। इस प्रयास का प्रथम पुष्प 'ब्रह्मचारी गोपालानन्द के ध्यानानुभव' और द्वितीय पुष्प मवांई के चमत्कारिक चरित्र' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन प्रयासों का उद्देश्य है कि जनसाधारण— उन पावन परित्रों को पढ़कर पवित्र योगमार्ग की ओर प्रवृत्त हो सके एवं योगियों की अद्भुत शक्तियों का भी परिचय वे पा सके। प्रस्तुत पुस्तक 'आठ योग' में श्री प्रभुजी को पूर्ण कृपा के प्रतीक आठ सन्तों की सत्य एवं यथार्थ कथायें लेखनी बद्ध की गई हैं। यह कथायें इतनी अद्भुत हैं कि पाठकों को आश्चर्य होना असम्भव नहीं। पाठकों को तो यहाँ तक शंका हो सकती है कि इस घोर कलिकाल में ऐसा होना सम्भव ही नहीं हो सकता। किन्तु नि:संदेह यह कथायें काल्पनिक नहीं अपितु मेरे नेत्रों की स्वयं दृष्ट घटनायें हैं। सद्गुरुदेव योगयोगश्वर आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी के आदर्श जीवन–इतिहास का यह एक अंश है। इस प्रकार के अनेक प्राणी उनके असीम अनुग्रह से कृतकृत्य हो गये हैं जिनके विषय में कई बार पता नहीं चल पाता और वे परम विरक्त–भाव से हिमालय की कन्दराओं में बैठे रहते हैं।

इन कथाओं को पढ़ने से पूर्व पाठकों को योग–सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करके अपने मन में इन सिद्धान्तों की सत्यता एवं अकाट्यता को ले आना परमावश्यक है। तभी ऐसी अद्भुत लीलाओं का वर्णन उनके मन को शंकित नहीं कर सकेगा। योग विद्या के अभ्यास के द्वारा हम कितनी बड़ी–बड़ी शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं तथा एक पूर्ण योगी की कितनी बड़ी सामर्थ्य हो सकती है– इन सबका परिचय इन कथाओं को पढ़कर साधारण पाठक भी प्राप्त कर सकेगा।

पाठकों को शंका हो सकती है कि ऐसे सामर्थ्यवान् सिद्ध योगिराज किस प्रकार भूमण्डल पर अवनरित हो गये? जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से संसार में अपने अवतार धारण करके के तीन प्रयोजन बताये हैं। पहला परित्राणाय साधूनाम' दूसरा 'विनाशय च दुष्कृताम्' और तीसरा प्रयोजन 'धर्म संस्थापनार्याय' है। हिमालय में रहने वाले परम योगाचार्यगण सर्वसमर्थ परन्तु अनन्त दयानिधान एवं प्राणिमात्र का सदैव हित चाहने वाले महासिद्ध होते हैं। उन्हें संसार में जन्म–धारण करने की बाध्यता नहीं होती, संसार से कुछ लेने का भी प्रयोजन नहीं होता और न कर्म करने का ही कोई बन्धन होता है। किन्तु धर्म की स्थापना हेतु इन्हीं महापुरुषों में से कोई–कोई विरले सन्त जगत्–कल्याण–तरु बनकर आ ही जाया करते हैं और उनकी बरदशीतल छाया में अनेकों प्राणी तीनों तापों से मुक्त होकर कृतार्थ हो जाते हैं।

हमारे सद्गुरुदेव आनन्दकन्दप्रभु श्रीरामलालजी महाराज भी सिद्धाश्रम में वास करने वाले हिमालय के सिद्धों में से एक हैं। जिन्होंने सुख–दु:ख, जीवन–मरण के द्वन्द्वों में फँसकर कुल बुलाते हुए

प्राणियों को देखा और परम करुणार्णव रुप बनाकर उनके दु:खों की निवृत्ति के लिए इस भूतल को कुछ काल के लिए सुशोभित किया। यहाँ आकर लुप्त प्राय: योग विद्या का उच्चतम प्रचार करना ही उनका उद्देश्य रहा। उनहीं जन-हित-रत दीनबन्धुजी के यह पावन चरित्र है। आशा है इस पुस्तक के वे सभी पाठक अपने को योगनिष्ठ बनाने का प्रयत्न करेंगे जिन्होंने परम पवित्र योग-मार्ग का अवलम्बन ले लिया है। समझना चाहिए कि उन्होंने कल्याण के अमृत स्रोत को पा लिया है। योग मार्ग से बढ़कर श्रेष्ठतम मार्ग अन्य नहीं है, विश्वास भगवान् श्रीकृष्णजी ने भी जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्माति वर्तते' कहकर योग की सर्वोत्कृष्टता को पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया है। अर्थात् जो योग के सच्चे जिज्ञासु भी बनेंगे, उन सब की स्थिति अन्य सभी कर्मकाण्ड करने वाले भक्तों से उच्च रहेगी। अत: परम श्रेयस को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्यों को योग-मार्ग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। इन कथाओं का पठन करने वाले भक्तों के मन में आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी के चरण-कमलों के प्रति निष्ठा और दृढ़ होगी और वे सब प्रकार से कल्याण को प्राप्त करेंगे, ऐसी मेरी इच्छा है।

हेय एवं हेय हेतु

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

संसार में छोड़ने लायक वस्तु क्या है? इस बात का हर व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो पाता। जिस समय कोई भी व्यक्ति दु:ख द्वन्द्व से घिर जाता है तो वह अपने मुख से स्वयं ही कहने लगता है कि परमात्मा मेरा इससे पीछा छुड़ाये। किन्तु उसको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वस्तुत: दु:ख-द्वन्द्व क्या वस्तु है और उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुआ करतीहै? श्री भगवान पतञ्जलि ने दु:खों का आधार पाँच क्लेशों को माना है। इनमें से अविद्या नाम का पहला क्लेश, अस्मिता-नाम का दूसरा क्लेश, राग नाम का तीसरा क्लेश, द्वेष नाम का चौथा क्लेश और 'अभिनिवेश' नामक पाँचवा क्लेश कहा गया है। वस्तुत: विचार कर देखा जाय तो ये पाँचों क्लेश ही दु:ख-द्वन्द्व के आधार हैं। इन पाँचों क्लेशों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने इनका स्वरूप इस प्रकार से बतलाया है। इनमें सबसे पहले अविद्या नाम का क्लेश है। अविद्या का लक्षण भगवान पतञ्जलिदेव ने इस प्रकार से किया है—

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिर-विद्या

अर्थात्, अनित्य वस्तुओं मैं नित्यानुभूति पहली अविद्या और अपवित्रों में पवित्रानुभूति दूसरी अविद्या, दुखों में सुख की सुखानुभूति तीसरी अविद्या और इसी प्रकार से अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना अविद्या का चौथा स्वरूप है। भगवान ने यों चार प्रकार के स्वरूप अविद्या के बतलाये हैं। इन स्वरूपों के स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र पर भगवान व्यास का भाष्य इस प्रकार हैं—

'अनित्य वस्तुओं से नित्य की भावना पहली अविद्या कहलाती है। जैसे पृथ्वी निश्चित है, चन्द्रमा तारे और देवता ये सब रहने वाले हैं। किन्तु वस्तुत: ये सभी वस्तुएँ अनित्य एवं न रहने वाली हैं और इसी प्रकार से अपवित्र वस्तुओं को पवित्र समझना दूसरी अविद्या है। जैसे परम घृणित काया को पवित्र समझना। कहा भी गया है— स्थान से, बीज से, मल-मूत्रादि के स्थानों से, मनुष्य का शरीर अत्यन्त अपवित्र है, किन्तु देखने में आता है मनुष्य अपने मन से इसको अत्यन्त पवित्र समझता है।

एक मनुष्य यदि किसी नवयुवती को देखना है तो वह अपनी भावना से विचार करता है, यह कितनी सुन्दर है। मालूम पड़ता है, चन्द्रमा को तोड़कर निकाली गई है। उस के शरीर में एवं अंग-अंग में सौन्दर्य की कल्पना करता है, किन्तु ऊपर लिखे अनुसार शरीर अत्यन्त ही घृणित है। इसी प्रकार दु:खों को मनुष्य सुख समझता है। दु:ख इतने अधिक है कि उनका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता। परिणाम ताप, संस्कार एवं त्रिविध दु:ख और गुण-वृत्ति-विरोध से विवेकी व्यक्ति के लिये सब कुछ दु:ख ही दु:ख है, किन्तु इन दु:खों को भी मनुष्य सुख समझता है। इसी प्रकार से व्यक्ति या अव्यक्त रूप से विशेष प्रकार के सत्वीत्कर्षकों को अपनी आत्मा समझ बैठता है, इसी अविद्या के कारण। यही अविद्या वस्तुत: क्लेशों की आधार है।

इसके बाद अस्मितानाम का दूसरा क्लेश यहाँ कहा है। भगवान पतंजलिदेव ने—

हृगदर्शनशक्त्योरेका त्मतेवास्मिता।

यह सूत्र कह करके दृग् शक्ति और दर्शन शक्ति की एक रुपता को अस्मिता नाम का क्लेश कहा है। दृग-शक्ति और दर्शन-शक्ति बुद्धि कहलाती है। इन दोनों की मिल करके एकरुपता बनी हुई है। इसी को जड़ और चेतन की गाँठ की कहा जाता है, यह अस्मिता नाम का दूसरा क्लेश है। राग नाम का तीसरा क्लेश है— ''सुखानुशयी राग:'' कह करके राग नाम के क्लेश को समझाया है अर्थात् मनुष्य का मन जिन वस्तुओं में लग करके सुख का अनुभव करे वही राग नाम का क्लेश है एवं इसी प्रकार से जिन वस्तुओं में लग करके मनुष्य का मन दु:ख का अनुभव करे वह दु:खानुशयी द्वेष है। यह अविद्या का चौथा भाग है। इसके बाद अभिनिवेश नाम का पाँचवा क्लेश है, जिसको मौत का भय कहा जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव ने अभिनिवेश नाम के क्लेश को इस प्रकार बतलाया है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभि निवेश:

सभी प्राणियों के मन में यह आशा बनी रहती है कि मेरे लिए ऐसा न हो कि मैं मर जाऊँ। जिसने मरण धर्म का अनुभव नहीं किया है उसके मन में यह धारण आ ही नहीं सकती। यह मरण भय विद्वान से लेकर मूर्खो तक में बराबर बना रहता है। इसीलिए विद्वान से लेकर मूर्ख में समभाव से रहने वाला यह पाँचवाँ क्लेश है। क्लेश शब्द वाला यह पाँचवा क्लेश है। क्लेशशब्द का अर्थ ही दु:ख है। संसार में जन्म लेने वाला हर प्राणी दु:खत्रास को हटाने के लिए प्रयत्नशील रहा करता है और उन्हीं सभी दु:खों की आधारभूता अविद्या है। एवं अविद्या जनित चार प्रकार के क्लेश होते हैं। इस प्रकार यह पाँच क्लेश अनेक रूप धारण करके मनुष्य के दु:खों का विस्तार करते रहते हैं। योगदर्शन में जहाँ संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व जाति-ज्ञान का प्रकरण आता है, वहाँ इन्हें हेय कहा गया है।

साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी महाराज के पास अनेक साधक भाई–बहन अपनी जिज्ञासाएँ भेजा करते थे, जिनका यथोचित समाधान गुरुदेवजी 'सिद्धयोग' द्वारा किया करते थे। यह लेख साधकों के प्रश्न और उनके उत्तर उन्हीं जिज्ञासाओं और उनके समाधान की एक कड़ी है, जिसे पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ दे रहे हैं।)

— सम्पादक

प्र. — हे गुरुदेव! कृपया करके यह बतलाइये कि ''ईश्वर प्रणिधान'' किसे कहते हैं और उससे समाधि किस प्रकार प्राप्त हुआ करती हैं?

उ. — हे सौम्य! प्रात: स्मरणीय भगवान व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में ईश्वर–प्रणिधान की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सर्वक्रियाणां परम गुरार्वीरश्वरे अर्पणं तत्फलं संन्यासी वा।

अर्थात्— अपने समस्त कर्मों को तथा उनके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। यहीं बात अखिल लोकनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता में कही है—

यत्करोषि यदश्नासि, यद्ददासि जुहोषि यत्।
यतपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभ शुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्म बन्धनै।
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

हे अर्जुन! तू जो कुछ भी करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो भजन करता है, जो तप करता है वह सब मुझ परमेश्वर के अर्पण कर दे।

इस प्रकार कर्मों को ईश्वर को समर्पण करने रूप संन्यास योग से युक्त हुए मन वाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त होकर मेरे को ही प्राप्त हो जायेगा।

भगवान श्री पतञ्जलिदेवजी महाराज ने भी 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा'' तथा ''समाधिसिद्धि ईश्वर प्रणिधानाद्'' अपने इन सूत्रो में ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि सिद्धि बतलाया है। ईश्वर प्रणिधान कैसे हो सकता है? इस बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—

तस्य वाचक: प्रणव:।
तज्जपस्तदर्थ भावनम्।
तत: प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

अर्थात् उस ईश्वर का प्रणव वाचक (ॐकार) है। अत: साधक को प्रणव का जप करना चाहिए और उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से साधना में आने वाले विघ्न दूर होते जाते हैं और परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है।

प्रश्न — हे गुरुदेव! ईश्वर के नाम तो अनेक हैं। क्या उनके जप से भी प्रणिधान हो सकता हैं या कि प्रणव जप से ही ऐसा होता सम्भव है?

उत्तर — हे वत्स! नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध है। ईश्वर के सभी नाम एक से हैं, किसी को बड़ा छोटा नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्रणव (ॐ) ईश्वर का वेदोक्त नाम होने से सबसे पवित्र माना गया है, अत: इसके जप का विधान किया गया है, अत: इसके जप का विधान किया गया है। शास्त्रों में स्थान–स्थान पर प्रणव महिमा का वर्णन मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने प्रणव का महत्व बताते हुए लिखा है :—

अदृष्ट विग्रहों देवो भावग्राह्यो मनोमय:।
तस्योङ्कार स्मृतो नाम तेनाहूत: प्रसीदति।।

अदृष्ट विग्रह देव जो अव्यक्त हैं, मन की धारणा से जिनका चिन्तन किया जाता है उन पर पुरुष का नामॐ है। ओम् शब्द का उच्चारण करने से यह अव्यक्त आत्मा प्रसन्न होता है—

प्रणवो वाचकस्तस्य शिवस्य परमात्मन:।
शिवरुद्रादि शब्दानां प्रणवो हि पर: स्मृति।।

भगवान सदाशिव का बोधक नाम ही ओम् है। शिव रुद्रादि शब्दों में उनका बोध कराने वाला नाम प्रणव ही प्रमुख है और उन प्रणव रूप महेश्वर में करोड़ों रुद्र, ब्रह्मा व विष्णु का समावेश है।

कठोपनिषद् के निम्नांकित मन्त्रों में भी प्रणव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया हैं—

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतवालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महोयते।।

यह अविनाशी ॐकार ही परमात्मा का स्वरूप है और यही परब्रह्म परमेश्वर है। अत: इस तत्व को समझकर साधक जो भी चाहे उसे प्राप्त कर सकता है।

यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे बढ़कर और कोई आलम्बन नहीं है। अर्थात् परमात्मा के श्रेष्ठ नाम की शरण हो जाना ही उनकी प्राप्ति का एक अमोघ साधन है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धापूर्वक प्रणव का जप करता है वह परमात्मा को पा जाया करता है। अत: साधक को चाहिए कि वह निरन्तर प्रणव का जप करता रहे। जप करते-करते जब थक जाय तो नित्य चेतन परमात्मा का ध्यान करें। क्योंकि हमारे शास्त्रों का आदेश है—

जप श्रान्त: शिवं ध्यायेत् ध्यान श्रान्त: शिवं जपेत्।
जप ध्यान समायुक्त: परं ब्रह्माधिगच्छति।।

योगदर्शन के सूत्र 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' की व्याख्या करते हुए श्री व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है—

प्रणवस्य जप: प्रणवाभिधेस्य चेश्वरस्य भावना, तदस्य योगिन: प्रणव जपत: प्रणवार्थ च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।

अर्थात् प्रणव का जप करने से और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान करने से योगी का चित्त अनायास ही एकाग्र हो जाता है।

इस प्रकार ईश्वर के वाचक प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का निरन्तर जप करना, अतिशय श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक उसका चिन्तन करते रहना, भक्तिपूर्वक उसका चिन्तन करते रहना, अपने समस्त कर्मों एवं उसके फल को ईश्वर के अर्पण कर देना तथा अपने को सर्वतोभावेन अपने इष्टदेव के हवाले कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। जहाँ इस प्रकार का प्रणिधान अर्थात् पूर्ण आत्म-समर्पण हो जाय वहाँ अविलम्ब समाधि-लाभ हो जाया करता है। 'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।' इस सूत्र पर अपने भाष्य में श्री व्यासदेव जी महाराज ने लिखा है—

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित: अभिमुखीकृत ईश्वरस्तमनुगृहणात्यभि- ध्यानमात्रेणइदमस्याभिमतमस्तुरिति।

अर्थात् प्रणिधान से— भक्ति विशेष से अभिमुख किया गया ईश्वर उस साधक पर अनुग्रह करता है और उसके लिए यह संकल्प करता है कि इसकी अमुक मनोकामना पूरी हो जाये। ईश्वर के संकल्प से उसे तत्काल मनवाञ्छित वस्तु (समाधि) प्राप्त हो जाती है।

मुद्रायें और उनका महत्व

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग साधना में जहाँ आसन प्राणायाम आदि क्रियाओं को अपना महत्व है वहाँ मुद्राओं की विधियों को जानना और उनके दैनिक अभ्यास का महत्व भी कम नहीं है। सिद्धि पाने के लिए यौगिक क्रियाओं का जानना मात्र ही पर्याप्त नहीं रहता किंतु आवश्यक यह भी रहता है कि क्रिया विधि को जानकर उसका नित्य नियम से अभ्यास करते रहना। बिना अभ्यास के कोई भी ज्ञान की राशि कभी फलदायी नहीं हो पाती। क्रिया-विधि का पुन: पुन: करना उसे दुहराना ही अभ्यास कहलाता है। योगाचार्यों ने ऐसी क्रिया-विधि को जो अभ्यास द्वारा साधक का स्वभाव बन गया हो 'घट योग' कहा है।

योगशास्त्र के अनुसार 'प्राणापाननादबिन्दु जीवात्मपरमात्मनो:' अर्थात् प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीव और परमात्मा के मिलने से जो शरीर बनता है, उसे घट कहते हैं और घटस्थ अर्थात् शरीर में की जाने वाली क्रियायें ही घटस्थ योग कहलाती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि परमात्मा हमारे शरीर में विद्यमान है, इस परमात्मा को जानने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही वस्तुत: घटयोग है।

तत्त्वज्ञान की वृद्धि और खोज में अभ्यास ही अधिक सहायक होता है, ऐसा महर्षि पतञ्जलि का भी कहना है और ऋषिवर घेरण्ड का भी यही कथन है। यथा:—

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाण: सदाघट:।
योगानलेनसंदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्।।

अर्थात्—मिट्टी के कच्चे घट में जल भर दिया जाय तो वह गल कर नष्ट हो जायगा। परन्तु यदि घट को पका कर जल भरें तो नहीं लगेगा, न नष्ट ही होगा। इसी प्रकार जीव के अपरिपक्व शरीर के विषय में समझना चाहिए। वह शरीर योगाग्नि के द्वारा ही परिपक्व हो पाता है। इसीलिए शरीर को परिपक्व करने के लिए योगाभ्यास आवश्यक होता है।

इस शरीर को मिट्टी के कच्चे घड़े से उपमित किया गया है। जैसे जल भरने से कच्चा घड़ा गल कर नष्ट हो जाता है वैसे ही योगाग्नि के बिना अपरिपक्व शरीर भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है वैसे ही योगाग्नि के बिना अपरिपक्व शरीर भी व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। अमृतनादोपनिषत् के अनुसार जैसे स्वर्णादि धातुओं का मल तपाने से दूर हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त मल प्राणायाम आदि क्रियाओं के विधिपूर्वक करने से नष्ट हो जाता है।

मुद्राओं का अभ्यास भी देह और मन, बुद्धि को स्थिर व सबल बनाने के लिए किया जाता है। घेरण्ड संहिता में मुद्राओं के स्वरूप प्रकार और परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। ऋषि कहते हैं—

महामुद्रा नभौमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।
विपरीतकरिणी योनि वज्रोली शक्तिचालिनी।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा।।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम्।।

अर्थात्—– महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीकारिणी, योनि, वज्राखो, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शांभवी पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशनी काकी, मातंगी ओर भुजंगिनी इत्यादि पच्चीस मुद्रायें हैं। यह सभी योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाली हैं।

यह मुद्राएँ अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि योगिजनों ने इन्हें प्राणायामों और योगासनों से भी अधिक महत्व दिया है। योगासनों से जहाँ शरीर का अस्थि-समूह दृढ़ होता है, वहाँ मुद्राओं की गोपनीय क्रियायें कुण्डलिनी शक्ति करे जगाने और चक्रवेध के लिए बड़ी उपयोगी रहती हैं।

योग-शास्त्र और शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में ७२ हजार नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है यही नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न भागों और घटकों का चालन करती रहती हैं। इन्हीं से सारे शरीर को जीवनी-शक्ति मिलती रहती है। इनमें से अनेक नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं जिन्हें केवल योगीजन ही योगाभ्यास के द्वारा जान पाते हैं।

मुद्राओं का अभ्यास इसी सूक्ष्म तथा स्थूल नाड़ी-जाल को सशक्त बनाता है, किन्तु यह मुद्रा-अभ्यास भी आसन प्राणायाम आदि के अभ्यास के समान किसी अनुभवी सद्गुरु योगी के निर्देशन में ही करना चाहिए। साधक जब ऐसा करता है तभी मुद्राओं का अभ्यास उसकी कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके इष्ट की प्राप्ति कराया करता है।

कहते हैं पार्वती के पूछने पर भगवान शङ्कर ने भी उनसे कहा था कि मुद्रायें योगियों के लिए प्रसन्नता और आनन्द प्रदान करने वाली होती हैं, लेकिन इनकी क्रियाओं को दृढ़ प्रतिज्ञ, विरक्त, संयमी,

आत्मज्ञानी और जिज्ञासु ही सफलता से कर पाने में समर्थ होते हैं। आइये समझें हम इन पच्चीस मुद्राओं में से पहले महामुद्रा को :—

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नत:।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेघृत पदांगुल:।।
कण्ठ संकोचनं कृत्वाभ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिवामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभि:।।

अर्थात्— बाँयी एड़ी से गुद-प्रवेश को दबाये और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़े और कण्ठ को सकोड़ कर भौहों को मध्य में दृष्टि लगाये रहे। यही महामुद्रा कहलाती है।

महामुद्रा तीन अन्य मुद्राओं का सम्मिलित रूप है, जिनके नाम हैं मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध और शाम्भवी मुद्रा। इसलिए महामुद्रा के पहले उक्त तीन मुद्राओं का अभ्यास सदा बैठी हुई स्थिति में ही करना चाहिए। योगचूडामण्युपनिषद् (६६) में इस मुद्रा के विषय में कहा है—

वक्षोन्यस्तहनु: प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसिरत पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धवा शनै रेचये-
देतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते।।

अर्थात्— ठोड़ी को वक्ष:स्थल पर रख कर बाँये पाँव से योनि स्थान को देर तक दबाये रहे और दाँये पाँव को सीधा फैलाकर दोनों हाथों से भले प्रकार पकड़े। फिर दोनों पार्श्वों (बगलों) में श्वास भरे और धीरे-धीरे निकाले। यह सब प्रकार के रोगों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कहलाती है।

ग्रहयामल में भी इस मुद्रा का उक्त प्रकार से ही वर्णन करते हुए कहा है कि 'वाम एड़ी से योनि प्रदेश को दबाकर दांया पांव फैलाने और मुख को दोनों हाथों से पकड़ कर कण्ठ में सकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। ऐसा करने से 'यथा दण्डाहत: सर्पो दण्डाकार: प्रजायते' अर्थात् जैसे डण्डे से आहत हुआ सर्प डण्डे के समान खड़ा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति भी सहसा खड़ी हो जाती है। तब कुम्भक द्वारा रोकी हुई वायु को शनै:-शनै: निकाल दे। यह महामुद्रा होती है।

योगचूड़ामन्युपनिषत् में इस मुद्रा के अभूतपूर्व लाभ बताये हैं। 'अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीयते' इत्यादि से कहा गया है कि अधिक खाया हुआ तीव्र विष भी महामुद्रा के प्रभाव से अमृत के समान पंच जाता है। क्षय, कुष्ठ, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और फिर कोई रोग नहीं होता।

योगी की स्वाध्यशीलता

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

('योग साधक को सफलता के बिन्दु पर पहुँचने के लिए उसका स्वाध्यायशील होना बड़ा ही आवश्यक रहता है। स्वाध्यायशीलता से आत्म–निरीक्षण और आत्म–उन्नति की ओर बढ़ने में अधिक सहारा मिलता है। वेद, दर्शन, उपनिषद् और अन्य आप्त पुरुषों के ग्रन्थों को नियम से पढ़ना और उनके उपदेशों को सार रूप में ग्रहण करते हुए जीवन को पवित्र बनाना स्वाध्याय का लक्ष्य होता है, जिससे प्राणी के भवबन्धन कटकर उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सके। यह सब स्वाध्यायशीलता का ही परिणाम रहता है। इसलिए स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।' इसी को समझाया हैं श्री गुरुदेवजी अपने इस लेख में।)

— सम्पादक

वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों आदि में स्वाध्याय का विशेष महत्व दर्शाया गया है। ऋषि, मुनि और आप्तजनों द्वारा प्रणीत सभी ग्रन्थों ने इस सत्य को बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया है कि मानव जीवन के चार पुरुषार्थं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है। आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं वरन भौतिक उन्नति में भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति सबसे अधिक कल्याणक होती है। इसीलिए तो हमारे पूर्वज ऋषियों और गुरुओं के आदि गुरु परमेश्वर ने व्यक्तियों से बने मानव समाज के कल्याण के लिए उसे चार आश्रमों में विभाजित करके प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य धर्मं स्वाध्याय यानी सद्ग्रन्थों का पठन–पाठन नियत किया है। इसके लिए यह भी नियम निर्धारित किया है कि ब्रह्मचारी २४–२५ अथवा तीस वर्ष की आयु तक सद्गुरुओं के आश्रम में रहकर ही स्वाध्याय करें और अन्त में आत्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान–विज्ञान को प्राप्त करके सद्गुरु आदेश से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। पूर्ण विद्या प्राप्त करा दिये जाने के बाद भी आश्रम के सद्गुरु जिन्हें आजकल की भाषा में गुरुकुल का उपकुलपति या कुलपति कहकर पुकारा जा सकता है— गुरुकुल छोड़कर जाने पर जो कल्याणप्रद उपदेश देते थे उसकी कुछ झलक तैत्तिरीयोपनिषद् के इन कतिपय वाक्यों में निहित है—

सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्नप्रमिदतव्य। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य। धर्मान्न प्रमदितव्म्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रभदितव्यम्।

अर्थात्— तुम धर्म का ही पालन करना, सत्य ही बोलना और स्वाध्याय में प्रसाद कभी भी न करना तथा आचार्य को दक्षिणा के रूप में वांछित धन लाकर देना और सत्य और धर्म से कभी न डिगना तथा वेदों के पढ़ने–पढ़ाने में कभी प्रमाद अथवा चूक न करना।

इस उपनिषद् वाक्य–रचना में यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि सत्य और धर्म के धारण में प्रमाद न करने के साथ स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात विशेष रूप से दोबार दुहराई गई है। इसका अर्थ यही हे कि स्वाध्याय का जीवन के उत्थान में बहुत आवश्यक आश्रय रहता है।

उपनिषद् के ऋषि का स्वाध्याय से तात्पर्य वेद, वेदांगों और आप्त–ऋषियों की रचनाओं के पठन–पाठन से ही है। ज्ञान की उपलब्धि सद्ग्रन्थों के पठन–पाठन से ही होती है और सद्ग्रन्थों का यह उपलब्ध ज्ञान ही मनुष्य की मुक्ति का साधन बनता है। स्वयं भगवान वेद का कथन है—

ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।

अर्थात्— ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और यह ज्ञान प्राप्त होता है निरन्तर के स्वाध्याय से जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

योग–दर्शन में भी भगवान पतञ्जलिदेव ने समाधि लाभ हेतु योग साधकों के लिए स्वाध्याय पर विशेष बल दिया है। द्वितीय साधन पाद के प्रारम्भ में ही क्रियायोग की परिभाषा में उन्होंने—

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणधानानि क्रियायोगः।

सूत्र की रचना करके स्वाध्याय को तप और ईश्वर प्रणिधान की समानता में ही ला खड़ा किया है। भगवान व्यासदेवजी ने इसी सूत्र की व्याख्या में स्वाध्याय के अर्थ में प्रणव आदि का पावन जप करते हुए मोक्ष आदि के मार्ग–दर्शक शास्त्रों का अध्ययन भी स्वाध्याय बतलाया है। यथा—

स्वाध्याय प्रणवादि पवित्राणां न यो मोक्ष शास्त्रध्ययनं वा।

श्री व्यासजी ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि मन को एकाग्र करने में प्रएव जप और शास्त्रों का स्वाध्याय बड़ा सहायक रहता है। इसी साधन पाद के ३२ वें सूत्र में भी जहाँ नियमों का उल्लेख किया गया है वहाँ स्वाध्याय को भी आवश्यक रूप से शामिल कर लिया गया है। यथा—

शौच सन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा:।

यानी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, नियम कहलाते हैं।

इसी दूसरे पाद के ४४ वें सूत्र में तो और भी स्पष्टता से स्वाध्याय से अलभ्य लाभ के रूप में साधक को देवों ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषों का सहयोग मिलता है। ऐसा भगवान पतंजलि ने स्पष्टता से उल्लेख किया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

स्वाध्यात् इष्ट देवता सम्प्रयोग:।

व्यास भाष्य के अनुसार सूत्र का अर्थ है- देवता, ऋषि और सिद्धगण स्वाध्यायशील को दर्शन देने जाते हैं और कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी सूत्र इस सत्य के द्योतक है कि स्वाध्याय के महत्व को योगदर्शनकार ने समाधि-लाभ के प्रयोजन के लिए अपने योग दर्शन में प्रमुख स्थान दिया है तथा योगदर्शन के सूत्रों की व्याख्या करने वाले विद्वानों ने भी योगियों और योगमार्ग के साधकों को परामर्श दिया है कि वे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को सतत् बनाये रखें और इस दिशा में कभी भी उपेक्षा या प्रमाद वृत्ति को न अपनायें। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं किन्तु गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में पहुँचकर भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति तब तक कल्याणकारी ही रहती है जब तक कि वे पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त कर लेते।

आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी श्री मद्भगवद्गीता में स्वाध्याय की गणना दैवी सम्पदा में की है। यथा—

अभयं सत्व संशुद्धिः ज्ञानयोगं व्यवस्थिति:।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जव।।

अर्थात्— अभय, मन:, शुद्धि, ज्ञाननिष्ठा, दान, दम, तप और स्वाध्याय दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के लक्षण हैं—

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन के उन्नयन में और समाधिसिद्धि में स्वाध्याय का अत्यधिक महत्व है इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक जीवन जीने वालों को सतत् स्वाध्यायशील बने रहने का परामर्श दिया है।

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वाध्याय का अर्थ जहाँ सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन है वहाँ इसका दूसरा अर्थ स्व-अध्याय यानी स्व का निरीक्षण करना भी है। आत्म-चिन्तन भी इसे कहा जा सकता है। योग मार्ग और आध्यात्मिक मार्ग के साधकों के लिए यह आत्म-निरीक्षण भी समय-समय पर आवश्यक है कि वे साधना के पथ में कितना आगे बढ़े हैं अथवा कितना पीछे हटे हैं? जीवन और जीवन के व्यवहारिक पहलू में सत्वगुण अधिकाधिक समाहित हुआ है या नहीं? आसुरी वृत्तियों का स्थान दैवी वृत्तियाँ ले पाई है या नहीं? इत्यादि चिन्तन भी स्वाध्याय की परिभाषा में आता है। आत्म चिन्तन से ही मनुष्य को वह आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी परिसमाप्ति समाधि अथवा कैवल्य पद प्राप्ति रूप में जाकर होती है। सद्गुरुओं ने इसीलिए स्वाध्यायशील बने रहने के लिए कल्याणपथ के जिज्ञासुओं को सदैव प्रेरित किया है। स्वाध्याय 'चाहे शास्त्रों का हो या आत्मा का दोनों ही दृष्टियों से यह मानव जीवन के परिष्कार: परिमार्जन और उत्थान का मुख्य आधार बनता है। अत: साधकों को सदैव स्वाध्यायशील बने रहना चाहिए।

शक्ति प्राप्ति का साधन-धारणा

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

हमने कभी किसी लेख में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है :—

''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो''

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म-पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं हो पाती है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक परलोक के सुख को किसी प्रकार का है जिस प्रकार वर्षाकाल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगें आदि जन्म लेकर पर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की लालसा बराबर बनी रहती है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार साधना में भी मनुष्य अपनी मति के अनुसार ही प्रवृत्त होता है। वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसको यह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए ही होता है। ठीक इस प्रकार जिस प्रकार, समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालू का में डाल दिया जाय तो वह बालू की गर्मी पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा-सा भी जलाशय मिल जाय तो उसे पाकर शान्ति मिल जाती है। यद्यपि यह शान्ति भी उसके लिए अस्थायी रहती है जब तक कि वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसका दु:ख-दर्द किसी भी प्रकार से कम नहीं हो पाता।

ठीक इसी प्रकार यह जीवात्मा भी शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है अत: जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसको शान्ति उपलब्ध नहीं हो पाती। जिसको शान्ति ही नहीं मिलती उसको सुख भी कहीं नहीं मिलता। इसलिए योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम् शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया है, जिनको अपनाकर वे कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं हुए। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन को ज्योतियों को भी महाज्योति कहा गया है। वेदमन्त्रों में इसकी शिव-संकल्प वाला भी कहा है।

वेद भगवान ने यह भी कहा है कि हमारा मन जागता हुआ जैसे दूर-दूर भ्रमण करता है उसी प्रकार सोता हुआ भी क्रियाशील बना रहता है। जिससे उसमें शुभ संकल्पों का वास हो ताकि यह हमारे उत्थान का कारण बने। पूर्वजों का कथन है कि—

मन एवं अजुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण हमारा मन है इसलिए सर्वप्रथम मन की चंचलता को रोककर शक्ति संचय करने के लिए इसको संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक रहता है। भगवान पतंजलिदेव ने 'योग-दर्शन' में जो भी योग का वर्णन किया है वह सभी यद्यपि मन पर कण्ट्रोल करने के लिए अचूक साधन हैं, किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का मनोनिग्रह करने के लिए तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया गया है।

'जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अंतर्मुख नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिए पहले योग्यशस्त्र की जरूरत होती है जो उसे काट सके। इसी प्रकार परम श्रेय लाभ करने के लिए भी अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिए प्रथम मन को वश में लाना बहुत आवश्यक रहता। इसकी पहली साधना तीव्रतम धारणा से ही आरम्भ होती है।

धारणा

यह धारण क्या है? इसके विषय में भगवान् पतंजलिदेव ने अपने सूत्रों में इस प्रकार उल्लेख किया है:

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्व प्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य के मन का एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों में कई मत हैं। श्री व्यासजी जो योग-दर्शन के प्रमुख भाष्यकार है धारणा के बारे में लिखते हैं:

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्घ्नि ज्योतिषि, नासिकाऽग्रे जिह्वाऽग्रे इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात् नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्ध्वा, ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनका हम अपने मन में कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। ऐसे ही देखे सुने हुए विषय का मन की भावना में चिन्तन करना ही वृत्ति-बन्ध कहा जाता है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ

लेना चाहिए, जैसे हम हृदय कमल में, भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें तो यही हृदय कमल की धारणा होगी।

बार-बार कल्पना से भगवान शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्ट के स्वरूप का हृदय-कमल में चिन्तन करना हृत्पुण्डरीक में होने वाली धारणा है। इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका, अग्र, जिह्वाग्र, नाभिचक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म में संलग्न रहे। भगवान पतंजलिदेव का आदेश है:

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थात् जिस भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की शीघ्र प्रतीक्षा के बजाय वर्षों तक लगातार उसका करते रहना आवश्यक होगा। यह नहीं कि एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई अन्तराय नहीं आने पाये।

'धारणा' को परिपक्व करने के लिए हमें कम से कम तीन साल तक एक विषय पर ही मन लगाना होगा। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त प्रकार के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका मनोबल अवश्य ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्चस्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकग्रता की ओर चलने लगता।

धारणा सु योग्यता मनसः।

अर्थात् निरन्तर समय तक धारणा करने पर ही मन की योग्यता बढ़ती है। इसमें बल का विकास होता है और साधक सब कुछ कर पाने की ताकत वाला बन जाता है।

दैवी सम्पदा का संवर्द्धन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(दैवी सम्पदा को अगर हम अपने जीवन–व्यवहार में साकार रूप दे सकें तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि हम अपने जीवन–उद्देश्य को न पा सके।

गुरुदेव का यह लेख इसी दृष्टिकोंण को हृदयंगम कराने की दृष्टि से लिखा गया है, जिस पर ध्यान देना सभी पाठकों का कर्त्तव्य होना चाहिए।)

— सम्पादक

जीवन के उन्नयन में, उसे श्रेयस्कार और सुख–शान्तिमय बनाने में दैवी सम्प्रदा जितनी सहायक हो सकती है, उतनी संसार की अन्य कोई भौतिक सम्पदा नहीं। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता के सोलहवें अध्याय में इसे संसार से विमुक्त होने का प्रमुख साधन बताया है। साथ ही भगवान् ने यह भी कहा है कि दैवी सम्प्रदा का त्यागकर यदि तुम आसुरी सम्पदा को वरण करोगे तो निश्चित रूप से पतन के गर्त में पड़ जाओगे। जिसका परिणाम दुर्गति और दुःसह दुःखों के दुर्गम जंगलों में भटकने के सिवाय और कुछ नहीं होगा। पढ़िये भगवान् कृष्ण के इस सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचारों को—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

आगे इसी श्लोक में वे आश्वस्त कर रहे हैं अर्जुन को—

मा शुचः संपद दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।

— गीता १६/५

'हे अर्जुन! तुझे किसी प्रकार का शोक और चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तू दैवी सम्पदा से युक्त होकर ही उत्पन्न हुआ है। तेरा जन्म–जात ध्येय और लक्ष्य इसी सम्पदा के विवर्द्धन तथा संरक्षण का होना चाहिए।'

यह सर्वमान्य मत है कि भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो उपदेश दिया है, वह संसार के प्रत्येक विचारशील मनुष्य के लिए है। यह संसार ऐसा संग्राम–क्षेत्र है, जिसमें दैवी और आसुरी शक्तियाँ मनुष्य को निमित्त बनाकर सर्वदा युद्धरत रहा करती है। जो मनुष्य दैवी सम्पदा के आयुद्धों से लैस जीवन के इस शुद्ध–क्षेत्र में आता है वह आसुरी सम्पदा के आयुधों को धारण करके लड़ने वाले व्यक्तियों को पराजित करके, उनके द्वारा पैदा किये गये अवरोधों को ध्वस्त करते हुए विजयश्री का अवश्य वरण कर लिया करता है।

अतः भगवान् के इस तत्व–ज्ञान को उन सभी को हृदयस्थ कर लेने की जरूरत है, जो जीवन को श्रेयस्कर, यशस्वी और आनन्दमय बनाने की अभिलाषा रखते हैं। साथ ही भगवान् के इस कथन की ओर भी सबको ध्यान देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक मनुष्य दैवी सम्पदा के आयुधों के लेकर ही यहाँ उत्पन्न होता है।

अतः यह चिन्ता और परेखा करने की जरूरत नहीं है कि दैवी सम्पदा का अर्जन कैसे होगा? कहाँ से होगा? बीज रूप में इस सम्पदा को लेकर तो वह आता ही है। जरूरत है इन्हें विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने की तथा यह ध्यान रखने की भी कि आसुरी सम्पदा के जो सुखद बीज उसके हृदय के कौने में दबे पड़े हैं, झाड़–झंकार की तरह उभरकर कहीं आसुरी सम्पदा के बीज घेर कर इन्हें अंकुरित होने से रोक न दें। इसके लिए सतत् जागरूक और प्रयत्नरत रहने की आवश्यकता है इसका ध्यान साधक को रखना ही चाहिए।

अपनी दैवी सम्पदा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए 'जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है'— की लोकोक्ति के अनुसार निरन्तर जागरूक बने रहने का प्रयत्न साधक को करना चाहिए ताकि प्रमाद, आलस्य और अहमन्यता जैसी आसुरी सम्पदा के बीज उभरकर दैवी सम्पदा के अंकुरों की बढ़ोत्तरी का मार्ग अवरुद्ध न कर दें।

दैवी और आसुरी सम्पदा के गुण धर्म क्या हैं? इन्हें स्वरूपतः आप किस प्रकार जान सकेंगे, इसका विस्तार से वर्णन योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के इसी अध्याय १६ में भली प्रकार से कर दिया है। इस अध्याय का नाम ही 'दैवासुर सम्पद् विभाग योग' है। पढ़िए, बता रहे हैं भगवान् दैवी सम्पदा के नाम रूप और गुण धर्म—

अभय सत्व संशुद्धिः
ज्ञानयोग विवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च,
स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधः,
त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष अलोलुप्वं
मार्दवं ह्रीरचापलम्।।

तेजः क्षमा घृति शौचम्,
अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीम्,
अभिजातस्य भारत।।

अर्थात्— भय का सर्वथा त्याग, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्व-ज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान् देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, भगवान् के नाम और गुणों का कीर्तन, तप यानी स्वधर्म-पालन के लिए कष्ट-सहन, शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता तथा मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना। मधुर व सत्य भाषण, किसी पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना। सब प्राणियों पर हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग न होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि (मानसिक और शारीरिक), किसी के प्रति भी शत्रुता का भाव न रखना, अपने में अति मानता का अभाव, ये सब सद्गुण दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के सभी मानवों को यह सन्देश दिया है। इन उपर्युक्त सद्गुणों को धारण करने वाला ही दैवी सम्पदा आ अधिपति कहा जा सकता है और जो दैवी सम्पदा का अधिपति होगा, जीवन व्यवहार में जिस व्यक्ति में इन गुणों का जितना अधिक प्रत्यक्षीकरण होगा उतना ही अधिक वह निःश्रेयश और शाश्वत सुख और शान्ति का भागी बनेगा। जो संस्कारी आत्मायें होती हैं उनमें दैवी सम्पदा के ये सभी गुण-धर्म उत्तरोत्तर विकसित होते रहते हैं। इनके विकास की पूर्णता और परिपक्वता ही मनुष्य को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराके मोक्ष के उस बिन्दु पर ले जाकर खड़ा कर देती है। जिसे पुरुषार्थ का चरम लक्ष्य बताया गया है या योग-दर्शन में जिसे कैवल्य-धाम की संज्ञा दी गई है।

दैवी सम्पदा के नाम से ऊपर जिन २६ सद्गुणों को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आचरण और व्यवहार में उतारने की आवश्यकता पर बल दिया गया है, प्रकारान्तर से इनमें से अधिकांश गुण-धर्म— योग-दर्शन के यम-नियमों की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः योग-पथ के साधकों के लिए दैवी सम्पदा के गुणों को व्यवहार और आचरण में उतारकर उन्हें उजागर करना कोई दुःसाध्य साधना नहीं है।

योग-साधक यम-नियमों के पालन का जो व्रत लेना चाहेगा उसमें दैवी सम्पदा के गुण स्वतः ही अपना बना लेंगे। केवल ध्यान रखने की बात यह है कि आसुरी संपदा के निकृष्ट गुण अपना विकास पाकर दैवी सम्पदा के सुन्दरतम उद्यान को ध्वस्त न कर दें। दैवी सम्पदा के विवर्धन और विकास में आसुरी सम्पदा अन्तरायों के रूप में आकर अपना स्थान न बना ले इसका एकमात्र उपाय है साधक का सतत् जागरूक रहना।

योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के इस दैवासुर सम्पदा विभाग योग नामक सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत् के वर्णन के उपरान्त आसुरी सम्पदा का भी परिचय करा दिया है ताकि साधक असुरों के जैसे दुर्गुण और दुराचारों से बचकर अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से बढ़ता चला चले। भगवान् कह रहे हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम्।।

— गीता १६/४

अर्थात् हे अर्जुन! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा कठोरता और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं। संसार की दो ही गतियाँ हुआ करती हैं। जिन पर उसकी जीवन-यात्रा अवलम्बित रहती है— एक उत्थान की और दूसरी पतन की। जो लोग अपना उत्थान और उन्नयन चाहते हैं, संसार-बन्धन से अलग हटकर जिन्हें मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा है, उन्हें सदा अपने हृदय में पड़े हुए दैवी गुणों के बीजों को ज्ञान, सत्सङ्ग, साधना वैराग्य, तप और स्वाध्याय द्वारा निरन्तर विकसित, पल्लवित और पुष्पित करने का प्रयास करते रहना चाहिए। उनका यह सतत् प्रयास ही उन्हें पतन के गर्त की ओर अथवा आसुरी मार्ग पर जाने से रोकने में समर्थ हो सकेगा।

सवांई में प्रभुजी का आगमन

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पढ़िए श्री सद्‌गुरुदेवजी द्वारा लिखित प्रभुजी का सवांई आगमन और कल्याणकारी श्री सिद्धगुफा का निर्माण।)

— सम्पादक

बरहन ग्राम के ठाकुरदास जी पर कृपा

एक बार अपने भ्रमण काल में घूमते हुए श्री प्रभुजी हाथरस आये और हाथरस से छोटे-छोटे गाँवों में विचरते हुए बरहन गाँव में पहुँचे। बरहन में ठाकुरदास नाम के एक तपस्वी भक्त निवास करते थे। ये जन्मकाल से ही साधु महात्माओं के सेवक थे। पूर्ण विनयी और आदर्श भक्त थे। अकस्मात् यह श्री प्रभुजी के बरहन गाँव में दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गये। कुछ दिनों तक श्री प्रभुजी ने बरहन में निवास किया। अनेक लोगों का भला किया। बरहन के निवासकाल में श्री प्रभुजी ने भक्त ठाकुरदास जी को अनेकों योग-साधकों की अनेक उपयोगी साधनाओं का उपदेश दिया एवं आयुर्वेदिक अनुभूत योग-साधन बतलाये और उनको आशीर्वाद देकर दु:खी लोगों की निष्काम चिकित्सा करते रहना तुम्हारा बहुत यह चिकित्सा कार्य तुम्हारे घर में भली प्रकार से आगे भी चलता रहेगा।

श्री प्रभुजी के कृपामय आशीर्वाद से भक्त ठाकुरदास सब तरह से कृत-कृत्य हो गये। उनका घर उसी दिन से धन-धान्य से परिपूर्ण एवं सुखी हो गया। बरहन में आज भी इनके सुपुत्र एवं पारिवारिकजन योग के सुयोग्य चिकित्सक हैं।

सवांई में प्यारेलाल पटवारी को दर्शन

कुछ दिन बरहन में निवास करने के बाद श्री प्रभुजी विचरते-विचरते सवाँई गाँव में आ पधारे। सवाँई गाँव बहुत छोटा-सा गाँव है, इस गाँव में ला. प्यारेलाल नाम के एक पुण्यात्मा पटवारी निवास करते थे। आप जाति से कुलश्रेष्ठ कायस्थ थे, और जन्म से ही पुण्यशील तथा ईश्वर के परम भक्त थे। ईश्वर भक्तों और ब्राह्मणों से आपका स्वाभाविक प्रेम रहता। कहीं पर कोई भी सत्संग की कैसी भी चर्चा चलती या ईश्वर का गुणानुवाद होता वहाँ आप अवश्य ही उपस्थित हो जाते थे। महात्माओं के दर्शन एवं उनकी सेवा का लाभ लेने में आप अपना अहोभाग्य समझते थे। मन में हर समय सन्तों के दर्शन करने को दृढ़ लगन लगी रहती थी। इसी लगन में ला. प्यारेलाल एक समय गाँव से बाहर विचर रहे थे तब अकस्मात् सब प्रकार से कल्याण-निधि श्री प्रभुजी के दर्शन इन्हें प्राप्त हुए। ला. प्यारेलाल ने विनीत भाव से श्री प्रभुजी के चरणाविन्दों में प्रणाम किया और प्रार्थना करके उन्हें अपने साथ लिवा लाये तथा अपने स्थान पर ठहरा लिया। वे बड़े भक्ति-भाव से श्री प्रभुजी की सेवा करने लगे। सत्संग का प्रभाव शनै:-शनै: बढ़ने लगा। हर समय स्त्री-पुरुष व बालक-बालिकाओं की भीड़ अनवरत बनी रहने लगी। जो जिस कामना को लेकर यहाँ आता था, वह पूर्ण हो जाती थी। पर्याप्त समय तक ला. प्यारेलाल ने श्री प्रभुजी को भक्ति-भाव से अपने यहाँ ठहराये रखा। यहाँ श्री प्रभुजी रात्रि के समय एक खास औषधि का निर्माण किया करते थे और रात्रि में ही कई सौ पुड़िया बनाकर रख लिया करते थे। प्रात:काल होते ही असंख्य मरीज द्वार को घेर कर बैठ जाया करते थे। प्रात:काल होते ही श्री प्रभुजी उन पुड़ियाओं को सब प्रकार के मरीजों में बँटवा दिया करते थे। बड़े भारी आश्चर्य की बात तो यह थी कि जो प्राणी आश्चर्य की बात तो यह थी कि जो प्राणी जिस तकलीफ को लेकर आता था, उन्हीं पुड़ियों से उन सभी व्यक्तियों को पूरा लाभ हो जाता था। औषधि का तो मात्र बहाना, वस्तुत: उनकी कृपा ही प्राणिमात्र के कल्याण का कारण बन जाती थी।

गुफा का निर्माण

कुछ दिन ला. प्यारेलाल जी के यहाँ निवास करने के बाद श्री प्रभुजी के मन में एकान्तवास की भावनायें अधिकाधिक जाग्रत होने लगीं। जिस दिन से ला. प्यारेलाल जी के स्थान पर श्री प्रभुजी ने निवास किया, उसी दिन से ला. प्यारेलाल के घर में सकल सम्पत्तियाँ वास करने लगी थीं। घर धन-धान्य से पूर्ण हो गया। सकल व्याधियां दूर हो गयीं। विघ्न-बाधाओं का सर्वथा अभाव हो गया। दिन-दूना रात चौगुना सम्मान बढ़ने लगा। उन्हीं दिनों लाला प्यारेलाल जी के घर में उनके पौत्र का जन्म हुआ जिससे ला. प्यारेलाल जी के मन में खुशी का पारावार न रहा। उन्होंने श्री प्रभुजी के चरण कमलों में प्रार्थना की कि- प्रभुजी! आप कृपा करके कोई सेवा बतलाइये जिसको करके मैं अपना जीवन सफल बना डालूँ। श्री प्रभुजी ने प्रसन्नता में आकर आज्ञा दी कि हम एकांत वास करना चाहते हैं। इसलिए तुम एक गुफा तैयार कराओ जिसमें हम हर प्रकार के जन-समुदाय से अलग रह सकें। उसके साथ ही एक तालाब भी बनवाओ जिसमें हम स्नान कर सकें। ला. प्यारेलाल ने श्री प्रभुजी की पवित्र आज्ञा को सुन कर बाग में मजदूरों को लगा करके व गाँव के अन्य प्रेमियों को साथ ले करके एक तालाब खुदवाया जिसमें श्री प्रभुजी स्नान किया करते थे।

तालाब के निकट ही कदम के नीचे गाँव के सब लोगों ने मिलकर एक गुफा बनाई। जिस समय लोग गुफा का निर्माण कर रहे थे, श्री प्रभुजी ने कहा कि यहाँ गुफा नहीं बन सकती। किन्तु गाँव के लोगों ने उनकी आज्ञा को नहीं माना और प्रेम-विभोर हो करके वहाँ पर ही गुफा का निर्माण करने लगें। बहुत प्रयत्नों के साथ गुफा बनकर तैयार हुई। किन्तु जिस समय सब लोग गुफा बनाकर बाहर बैठे तो यकायक वह गुफा गिर गई। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। लोगों के विचार में आया कि गुफा की छत कुछ पतली रह गयी होगी, छत काफी मोटी होनी चाहिये थी। इसी विचार से उन्होंने वहीं दुबारा पुन: गुफा बनाना आरम्भ कर दिया। श्री प्रभुजी ने फिर भी बार-बार मना किया कि यहाँ गुफा नहीं बनेगी। किन्तु लोगों को अपनी बुद्धि बल पर बड़ा विश्वास था कि हम यहाँ पर गुफा बनाकर ही रहेंगे। इसी आधार पर लोगों ने बड़े प्रयत्न के साथ उसी स्थान पर दूसरी गुफा तैयार कर डाली। किन्तु वह गुफा भी कायम न रह सकी, थोड़ी देर बाद गिर गई। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लोग मन में विचार करने लगे कि हम बड़ा भारी प्रयत्न करते हैं, किन्तु इतना प्रयत्न करने पर भी हम बराबर विफल ही हो जाते हैं। मालूम पड़ता है कि इस गुफा के बनाने में श्री प्रभुजी का संकल्प नहीं। इसलिए अबकी बार इनसे पूछकर ही इनके बताये हुए स्थान पर ही गुफा का निर्माण करें।

ऐसा विचार कर श्री प्रभुजी से प्रार्थना का कि, प्रभो! हमने काफी प्रयत्न कर लिया है, किन्तु सफलता नहीं मिल रही है। अब आप कृपा करके जिस स्थान की आज्ञा देंगे, उसी स्थान पर हम गुफा का निर्माण करेंगे। लोगों के पवित्र विचारों को जान करके श्री प्रभुजी के प्रसन्नतापूर्वक बाग के दक्षिणी भाग में नीमों के नीचे कंकरीली जमीन में गुफा बनाने की आज्ञा प्रदान की। लोगों ने बड़े उत्साह के साथ कई दिन लगा कर वहाँ गुफा का निर्माण किया। जो आखकल भी 'श्री सिद्ध गुफा' के नाम से प्रख्यात हैं। इस गुफा में श्री प्रभुजी ने काफी दिनों तक निवास किया। गुफा से लगभग ४० कदम की दूरी पर लाला प्यारेलालजी ने एक छोटा सा तालाब तैयार करवा दिया, जिसमें श्री प्रभुजी नित्य स्नान किया करते थे। श्री प्रभुजी ने इस तालाब का नाम अमृतकुण्ड रखा।

ग्राम वासियों के पवित्र प्रेम-भाव व ला. प्यारेलाल की सेवाओं से प्रसन्न होकर श्री प्रभुजी ने इस छोटे से जलाशय में शक्तिपात किया और कहा कि इस तालाब में जो भी चर्म रोगी स्नान करेगा, उसकी तकलीफ दूर हो जायेगी। और सब बीमार बच्चे स्नान मात्र से ठीक हो जायेंगे। जो लोग गुफा की पवित्र रज का सेवन करेंगे, और इस पवित्र अमृतकुण्ड में स्नान करेंगे, उनके सब प्रकार के दु:ख भी दूर हो जायेंगे। परिणाम बिल्कुल यही हुआ। दूर-दूर के सैकड़ों प्राणी अपने बच्चों को तालाब में स्नान कराकर ले गये और उनके रोगों की पूरी तरह से निवृत्ति हो गयी। अब भी इस प्रकार के व्यक्ति मौजूद हैं, जो अमृतकुण्ड का प्रत्यक्ष प्रभाव अपने मुख से बतलाया करते हैं श्री प्रभुजी के वरदान के बाद तालाब में सैकड़ों लोग चर्मरोगी व सूखा वाय के रोगी बच्चे इस कुण्ड में नहाकर ठीक हुए हैं और अभी तक बराबर ठीक हैं। उनमें से ठा. भूपसिंह, दौलतराम आदि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है। इन लोगों को सूखे की बीमारी से अत्यन्त क्षीण हालत में घर वालों ने स्नान कराया जिसके फलस्वरूप वे पूर्ण प्रकार से ठीक हो गये। चर्म रोग व सूखा वाय के रोगियों के लिए श्री प्रभुजी ने यह नियम रखा था कि ये लोग स्वतन्त्र तालाब में स्नान करें। बाद में गीले वस्त्र उतार कर वहीं फेंक दें और नये वस्त्र पहन कर घर जायें। ऐसा करने से वे बिलकुल नि:रोग हो जायेंगे। जिन लोगों ने अमृतकुण्ड में स्नान नहीं किया, परिणाम अनुकूल ही होता रहा। यानी वे सब निरीग होते गये।

अमृतकुण्ड और गुफा के निर्माण हो जाने के बाद श्री प्रभुजी इस स्थान पर निरन्तर वास करने लगे। दर्शनार्थी लोगों की शनै:-शनै: भीड़ा बढ़ने लगी। अनेक प्रकार से लोग अपनी मनोकामनाओं को पा करके अपने जीवन को सफल बनाने लगे। किन्तु एक बड़ा भारी यह आश्चर्य था कि श्री प्रभुजी के जटा जूटधारी अलौकिक विरक्त शरीर के दर्शन पाकर लाग साक्षात् उन्हें महादेव जी समझते रहे थे। सर्व साधारण उनके सामने आ जावें। इसके साथ-साथ और भी भयानक बात यह हुई थी कि ज्यों ही लोग बाग में प्रवेश करते थे तो उनको चारों ओर सर्प नजर आते थे। महाभयङ्कर सर्पों को देख करके लोगों का साहस बिलकुल मन्द हो जाता था। निराश होकर से अपने आपको हतभाग्य समझकर सब अपने घरों को लौटने लगते। लोगों की महान निराशा को देखकर श्री प्रभुजी ने उत को सान्त्वना दी कि— भाई! तुम घबराओ नहीं। तुम नि:संकोच मेरे पास ठहरो। ये सर्प तुमसे बिलकुल कुछ नहीं कहेंगे किन्तु अपनी ओर से तुम इन्हें मारने का प्रयत्न न करना। श्री प्रभुजी की इस प्रकार की पवित्र आज्ञा को पा करके लोगों का साहस और भी बढ़ने लगा और उनका यातायात पूर्ववत् बाग में जारी रहने लगा।

मृत्यु का मूल्य

यदि मृत्यु की कोई कीमत है तो वह है व्यक्ति को सच्ची जीवन कला सिखाना। साधक के लिए आगे प्रगति करने की आशा से मृत्यु की कामना करना गलत होगा। दूसरी ओर जब उसे मृत्यु आ घेरे तो उसे उससे डरना नहीं चाहिए। विपरीत इसका सच्चा साधक न तो मृत्यु की कामना करता है और न ही उससे भय खाता है और जब मृत्यु उसके पास आ जाती है तो वह उसे जीवन-सोपान का एक नया पग बना लेता है।

कुछ लोग मृत्यु की तात्कालिक घड़ी से बड़ा भय खाते हैं और उसे बड़ी पीड़ादायक समझते हैं। किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। अपितु होता यह हैं कि मृत्यु से पहले अनुभव किये सभी कष्ट समाप्त हो जाते हैं क्योंकि देहावसान की प्रक्रिया सर्वथा पीड़ा रहित होती रहती है।

मृत्यु घिस जाने तथा फट जाने के कारण बेकार हो गये वस्त्रों के फेंक देने के समान है। जैसे एक यात्री विभिन्न स्थानों पर रुक कर अपनी आवश्यकतानुसार वस्त्र बदल सकता है इसी प्रकार व्यक्ति अपने संस्कारों की आवश्यकतानुसार अपने शरीर बदलता रहता है।

— मेहेर बाबा

सम्यक्ज्ञान का साधन योग

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

— योग-दर्शन २/२०

अर्थात् - दृष्टा जीवात्मा और दृश्यत्वेन बुद्धि, इन दो का अनादिकालीन संयोग बना हुआ है, यह संयोग ही दुःखों का कारण है। यदि साधक दृष्टा और दृश्य के इस सम्बन्ध से किसी प्रकार से, किन्हीं साधनों के उपयोग से अपने आपको छुड़ा लेता है तो वह अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर अभय पद को प्राप्त कर लिया करता है। भगवान पतञ्जलिदेव बतलाते हैं—

तस्य हेतुरविद्या

— योग-दर्शन २/१४

अर्थात् इस सम्बन्ध या संयोग का मूल कारण अविद्या है।

इस अविद्या के कारण ही यह जड़ और चेतन की गाँठ बनी हुई है। इस गाँठ को ही अज्ञान ग्रन्थि एवं हृदय ग्रन्थि के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके कारण ही जीवात्मा अपने स्वरूप को भूलकर बुद्धेय प्रति संवेदी बन गया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझाने के लिए मुनि पतञ्जलि अपने योगदर्शन के साधन पाद के बीसवें सूत्र में लिखते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

अर्थात् दृष्टा जीवात्मा केवल दृशिमात्र है किन्तु फिर भी बुद्धेय प्रति संवेदी होने के कारण प्रत्ययानुपश्य है।

दृष्टा जीवात्मा केवल मात्र दृक्-शक्ति ही है। किसी भी विशेषण से बिल्कुल ही अपरामृष्ट है। इसलिए वह जीवात्मा बुद्धि का प्रति संवेदी तो है किन्तु बुद्धि का बिल्कुल स्वरूप नहीं है और न ही अत्यन्त विरूप है।

अत्यन्त विरूप भी नहीं है और उसका स्वरूप भी नहीं हैं, क्योंकि बुद्धि ज्ञाताज्ञात विषय वाली होने से परिणामिनी कहलाती है। उस बुद्धि का विषय गवादि चेतन और घटादि अचेतन दोनों प्रकार का ज्ञान और अज्ञान होने से बुद्धि के परिणामित्व को बतलाता है और सदा ज्ञातविषयत्व का होना, पुरुष अर्थात् जीवात्मा के अपरिणामित्व को प्रगट करता है। बुद्धि की तरह से पुरुष कभी ग्रहीता और कभी अग्रहीता नहीं होता। इससे पुरुष अर्थात् जीवात्मा का ज्ञातविषयत्व सिद्ध हो गया। इसके अतिरिक्त बुद्धिपरार्था भी है क्यों-कि पुरुष के योग से ही बुद्धि काम कर सकती है। पुरुष के सम्बन्ध के बिना बुद्धि धर्म जड़त्व होने से वह कोई कार्यकारण शक्ति नहीं होती, क्योंकि बुद्धि त्रिगुणात्मिका है और त्रिगुणात्मिका होने से अचेतन अर्थात् जड़ है ही और पुरुष अर्थात् जीवात्मा गुणों का केवल दृष्टामात्र है।

इसलिए न ही वह सरूप है और न ही विरूप है और यह अत्यन्त विरूप हो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि यह पुरुष प्रत्यानुपश्य अर्थात् बुद्धि बोध को देखने वाला है। और चूँकि यह बोधों को देखने वाला है, इसलिए तदानुरूपेण भाषित होता है। इसलिए कहा गया है— ''चित्तशक्ति अपरिणामिनी और अप्रतिसंक्रमा' तो यथार्थ में है ही किन्तु फिर भी चूँकि यह बुद्धिवृत्तियों का अनुपतन करती है इसलिए बुद्धिवृत्तियों के साथ मिली हुई दिखलाई देती है। इस सूत्र के द्वारा भगवान पतञ्जलिदेव ने जीवात्मा के स्वरूप को भली प्रकार से खोल करके समझा दिया है। आनन्दकन्द भगवान कृष्णचन्द्र ने भी श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए इसी भाव को समझाते हुए कहा है :

'यह जीवात्मा न कभी जन्मता है न कभी मरता है, न कभी हुआ है न कभी आगे होगा यह सदा ही अजन्मा और नित्य शाश्वत और पुरातन हैं। शरीरों के मोर-काटे जाने पर यह मारा-काटा नहीं जाता। जो इसको अविनाशी और अव्यय जानता है वह यह भी समझता है कि यहाँ कोई पुरुष किसी को मार ही नहीं सकता है।

यह जीवात्मा अच्छेद्य अर्थात् कभी काटा नहीं जा सकता। अदाह्य कभी जलाया नहीं जा सकता। अक्लेद्य अर्थात् कभी भिगोया नहीं जा सकता। अशोष्य अर्थात् कभी सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य सनातन है। सर्वगतं स्थाणु एवं अचल है। यह अव्यक्त अचिन्त्य एवं अविकारी कहा जाता है। इसलिए आत्मा का यह स्वरूप किसी चिन्ता का विषय नहीं रहता। इस जड़ और चेतन की ग्रन्थि को बना देने वाली केवल मात्र अविद्या है।

यदि अविद्या-जनित जड़ और चेतन की गाँठ टूट जाये तो पुरुष जीवात्मा कैवल्यभावी हो जाया करता है। उसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान् पतञ्जलिदेव लिखते हैं कि—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

अर्थात् उस अविद्या के अभाव हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। इसी का नाम हान है और संयोगाभाव हो जाने पर दृग शक्ति अर्थात् जीवात्मा कैवली भाव को प्राप्त हो जाया करता है।

इस सम्बन्ध में व्यास भाष्य भी उल्लेखनीय है :

'अविद्या वृत्ति का अभाव हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है और बुद्धि व पुरुष के संयोग का अभाव हो जाने पर अभी तक जो जड़ चेतन की गाँठ का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था वह टूट जाता है। यही चित्त-शक्ति की कैवल्य अवस्था कही जाती है। अभी तक जो बुद्धि और पुरुष का मेल दिखलाई पड़ रहा था वह इस स्थिति में बिल्कुल नहीं रहता और गुणों के साथ इसका पुन: संयोग भी नहीं होता। दु:ख के कारण की अत्यन्त निवृत्ति हो जाने के बाद दु:खों की उपरामता का नाम ही हान है। और यही जीवात्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा कहलाती है इसको विवेकख्याति भी कहा गया है। भगवान् पतञ्जलिदेव विवेकख्याति को ही हान का उपाय या साधन बतलाते हुए कहते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:।

अर्थात् प्लवन रहित विवेकख्याति ही इस बुद्धि और पुरुष के संयोग-विच्छेद रूप हान का उपाय है।

प्रकृति और पुरुष की अनन्यता रूप जो पृथक-पृथक ज्ञान है, जिस ज्ञान से हृदय की ग्रन्थि खुल जाया करती है और पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने स्वरूप (विकार-रहित स्थिति) में आ जाया करता है तथा प्रकृति अपने जड़ धर्मों का आश्रय लेकर पुरुष से अलग होकर अपने मूलरूप में स्थित हो जाती है। इस स्थिति का ही नाम विवेकज्ञान या विवेकख्याति हुआ करता है और इस स्थिति में उसका मिथ्या ज्ञान दग्ध-बीज-भाव को प्राप्त हो जाता है यानी उनकी जननशक्ति जल चुकी होती है। तथा दग्ध बीज भाव की भाँति प्रसव शक्ति रहित हो चुकाने पर योगी का मन सब प्रकार के क्लेशों और रजोगुण के भावों से परे होकर परम वैशारद्य (परम निर्मलता) को प्राप्त कर वशीकार संज्ञा को प्राप्त हो चुका होता है यानी योगी का विवेकज्ञान प्रवाह बिल्कुल निर्मल हो जाता है और उसको विवेकख्याति फिर कभी गिरा नहीं करती। तब ऐसी ही विवेकख्याति हान का परम उपाय या साधन बन जाती है। विवेकख्याति ही मिथ्या-ज्ञरान को दग्धबीज किया करती है। यही मुक्ति का मार्ग है। और यही अविद्या का नितान्त अभाव करके बुद्धि और पुरुष के संयोग का नितान्त अभाव करके जीवात्मा को केवल प्राप्त कराया करती है।

जीवन तत्व साधन और उसके नियम

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जीवन तत्व साधन करने के लिए कुछ नियम हैं जिनका जान लेना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं :—

१. इन क्रियाओं को नित्य आदरपूर्वक करना चाहिए। कभी नागा नहीं करनी चाहिए।

२. इन क्रियाओं को करने के लिए जो समय का विभाजन है उसी के अनुसार साधन करना चाहिए। जो क्रिया जितनी बार या जितने समय तक करने का विधान है, उसे उतने समय तक करना चाहिए। शुरू में थोड़े से आरम्भ करना चाहिए और धीरे-धीरे पूर्ण समय तक अभ्यास बढ़ा लेना चाहिए। कभी कम व कभी अधिक करने से पूर्ण लाभ नहीं होता है।

३. इन क्रियाओं को करते समय घड़ी रख लेना आवश्यक है, घड़ी से कुछ दिन अभ्यास कर लेने पर गिनती के आधार पर भी साधन किया जा सकता है।

४. यदि इन क्रियाओं को प्रात:काल, मध्याह्न काल व सायंकाल अर्थात् नित्य तीन बार छ: मास तक किया जावे तो मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है और उनके सभी रोग जड़ मूल से नष्ट हो जाते हैं। यदि तीन बार साधन करने का अवकाश न मिले तो केवल प्रात:काल करना चाहिए। इन क्रियाओं के करते समय लंगोट या कोपीन अवश्य पहन लेना चाहिए।

५. इन क्रियाओं को प्रात: ब्राह्म मुर्हूत में करने से विशेष लाभ होता है सूर्योदय से दो घण्टे पूर्व साधन आरम्भ कर देना चाहिए। समय में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। नित्य ठीक समय पर साधन आरम्भ कर देना चाहिए।

६. यदि कोई मनुष्य अन्य योगासनों के करने का अभ्यासी है तो उसे 'जीवन तत्व' करने के बाद कुछ देर शवासन से लेटकर आराम कर लेना चाहिए तदनन्तर अन्य आसन व्यायाम अथवा जप ध्यान आदि करना चाहिए।

७. प्रात:काल शौच-स्नान के बाद इन क्रियाओं को करना चाहिए। बहुत अधिक सर्दी हो अथवा प्रात: स्नान करने में असमर्थ हों तो भीगे वस्त्र से शरीर को पोंछकर कपड़ा बदल लेना चाहिए।

८. शौच व दन्त-धावन के बाद जल नेति की क्रिया कर लेना बड़ा लाभदायक होता है। यह क्रिया किसी जानकार से सीख लेना चाहिए अथवा श्री सिद्धगुफा पर जाकर सीख लेना चाहिए।

९. जीवन तत्व-साधन करने वालों को नाक से दूध पीना भी बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ है। यह दुग्धपान साधन करने के बाद करना चाहिए। सोंठ मिला हुआ गुनगुना दूध नाक से पिया जाता है। यह क्रिया भी 'सिद्धगुफा' पर आकर सीखी जा सकती है। इससे सिर के समस्त रोग मिट जाते हैं और दूध भी पच जाता है। मुख से पीने के अनुपात में नाक से चौगुना लाभ होता है। स्नायु, मंडल को भारी बल मिलता है। मनुष्य के शरीर में अद्‌भुत परिवर्तन दिखाई देने लगता है। मुख-मण्डल दैदीप्यमान हो जाता है।

१० जीवन तत्व क्रियाओं को करने के बाद पेट की अग्नि तीव्र हो जाती है अत: उस समय कुछ खा लेना आवश्यक है। यदि संभव हो सके तो नासिका से सोंठ मिला दूध पी लेना चाहिए। अथवा खीर, दलिया, भीगे अंकुरित चने आदि पदार्थ खा लेना चाहिए। चाय आदि न लिया जावे तो अच्छा रहता है।

११. जीवन तत्व-साधन की छठवीं व सातवीं क्रियाओं का नाम बालमचलन व बच्चे का ध्यान है। जिस समय साधक इन क्रियाओं को करता है तो उसको बच्चे की स्पष्टाकृति दिखाई पड़ने लगती हैं और उसके मन में ऊँचा आह्लाद पैदा हो जाता है जिसके कारण वह सारे दिन बच्चों की तरह हँसता खेलता कूदता रहता है। इस प्रसन्नता के फलस्वरूप सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग दूर हो जाते हैं।

१२. जीवन तत्व-साधन करने वालों को व्रत व उपवास नहीं करना चाहिए किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे भक्ष्य अभक्ष्य आदि सभी पदार्थ खाते रहना चाहिए। सात्त्विक व पौष्टिक भोजन ग्रहण करना चाहिए और राजसिक व तामसिक भोजन का त्याग कर देना चाहिए। इसके सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी बताया है :

आयु: सत्त्व बलारोग्य
सुख प्रीति विवर्धना:।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा,
हृद्या आहारा: सात्त्विकप्रिया:।

— गीता १७/८

अर्थात् आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख प्रीति बढ़ाने वाले, तथा रसदार चिकने; चिरस्थायी दिल पसन्द पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ल लवणात्युष्ण-

तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा,

दुःख शोकामय प्रदाः।।

— गीता १७/९

अर्थ- कड़वे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाह करने वाले तथा दुःख, शोक और रोग देने वाले आहार रजोगुणी पुरुषों को प्यार होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति,

पूर्यषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं,

भोजनं तामसप्रियम्।।

— गीता १७/१०

अर्थ— ठण्डा नीरस दुर्गन्धित, बासी जूठा और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुषों को प्यारा होता है।

योगियों को केवल सात्त्विक भोजन करना चाहिए। भोजन के सम्बन्ध में आजकल बहुत भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं कौन-सा भोजन नीरोगता व स्वस्थता को बढ़ाता है इसको समझ लेना चाहिए।

'जीवन तत्त्व' साधन करने वालों को सात्विक आहार करना चाहिए। हमारा स्थूल शरीर अन्नमय कोश से बना है। जैसा हम अन्न खाते हैं वैसा हमारा मन बनता है। क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए कितना खाना चाहिए और कब खाना चाहिए आदि बातों को जान लेना आवश्यक है। इस विषय को बताने के लिए हम एक कहानी के माध्यम से समझाने का प्रयासय करते हैं।

महर्षि चरक जब आयुर्वेद के सारे ग्रन्थ लिख चुके, सब प्रकार की विधियों का, सब प्रकार की औषधियों का, चिकित्साओं का वर्णन कर चुके और प्रचार भी कर चुके तो उनके मन में विचार आया कि चलूँ देखूँ लोग मेरे बताये मार्ग पर चलते भी हैं या नहीं। वे एक पक्षी का रूप धारण करके उड़े और वहाँ गये जहाँ वैद्यों का बाजार था। एक वृक्ष पर बैठ कर पक्षी ने ऊँची आवाज में कहा ''कोऽरुक' अर्थात् कौन रोगी नहीं है। एक वैद्य ने पक्षी को देखा, उसकी बात को समझा और कहा- जो 'च्यवनप्राश' खाता है वह रोगी नहीं है। एक और वैद्य बोला— जो 'चन्द्र प्रभा वटी खाता है। वह रोगी नहीं है। तीसरा वैद्य बोला— जो 'बंग भस्म खावे वही नीरोग'। चौथे वैद्य ने कहा— यह सब गलत बातें हैं। जब तब 'लवण-भास्कर' चूर्ण नहीं खाओगे तब तक पेट ठीक नहीं होगा तब तक रोग बना रहेगा। चरक ने यह सब सुना तो दुखित हो गये, उन्होंने सोचा कि मैंने इतना बड़ा शास्त्र क्या इसलिए लिखा है कि मनुष्य के पेट की दवाइयों का गोदाम बना दिया जावे। मेरा परिश्रम क्या निष्फल गया? वे दुःखी होकर उड़े। कई स्थानों पर गये। हर स्थान पर उन्होंने कहा 'कोऽरुक'। कहीं से भी ठीक उत्तर नहीं मिला। अन्त में वे एक उजाड़ सुनसान स्थान पर एक सूखे वृक्ष की शाखा पर बैठ गये। उसके पास ही एक नदी बहती थी। नदी में नहाकर प्रसिद्ध वैद्य वाग्भट्ट महाराज बाहर आ रहे थे। चरक ने उन्हें पहचाना, और पुकार कर कहा 'कोऽरुक' वाग्भट्ट चलते-चलते रुक गये, आँखें उठाकर पक्षी की ओर देखा और समझ गये। वे बोले 'हित भुक्, मित् भुक्, ऋत् भुक्।' चरक इन शब्दों को सुनते ही वृक्ष के नीचे आ गये और पक्षी रूप छोड़कर वाग्भट्ट के सामने खड़े होकर कहा– वैद्यराज तुमने ठीक समझा है।'

परन्तु इस हित भुक्, मित भुक्, ऋत् भुक् का क्या अर्थ है इसे अब बतलायेंगे। जो मनुष्य नीरोग रहना चाहे और अच्छे स्वास्थ्य का इच्छुक हो, उसे इन शब्दों को अपने घर की दीवाल पर लिखवा लेना चाहिए। इनका सदैव ध्यान रखे और इन उपदेशों का पालन करें। यह तीन शब्द हमारे आहार-नियमों को बताते हैं।

हित भुक्

भोजन हमारे शरीर के लिए हितकारी है, उसी को प्रयोग में लाकर हम स्वस्थ रह सकते हैं, इसी को हित भुक् कहते हैं। आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि स्वास्थ्य को कायम् रखने के लिए किन-किन पदार्थों को खाना चाहिए और कौन-कौन भोजन त्याज्य हैं। आदर्श भोजन में १४ तत्व अवश्य होने चाहिए। ये तत्व निम्नलिखित हैं:

(१) आक्सीजन— टमाटर, किशमिश, मुनक्का, आलू आदि में पाया जाता है यह मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाने वाला है।

(२) हाईड्रोजन— हरे ताजे फल, साग, तरकारी दूध आदि में पाया जाता है। जीवन को शक्ति प्रदान करता है तथा भीतरी सफाई सफाई करता है।

(३) नाईट्रोजन— दूध, मट्ठा, सेम, आड़ू, बादाम आदि में पाया जाता है।

(४) कार्बन— आलू, अनाज, सूखे मेवे, अंगूर, सेब आदि में पाया जाता है। यह आक्सीजन में मिला रहता है और गर्मी बनाये रखता है।

(५) कैल्शियम— गेहूँ, दूध, नीबू, गोभी, मट्ठा आदि में पाया जाता है। यह रीढ़ तथा मस्तिष्क की रक्षा करता है।

(६) फास्फोरस— नारियल, अनन्नास, जैतून आदि में पाया जाता है। यह रीढ़ तथा मस्तिष्क की रक्षा करता है।

(७) सल्फर— पातगोभी, किशमिश, मुनक्का, फूलगोभी आदि में पाया जाता है। यह विजातीय द्रव्य को शरीर से निकाल कर बाहर करता है।

(८) सोडियम— मकोय आदि में पाया जाता है। कार्बन की अधिकता रोकता है तथा लार को बढ़ाता है।

(९) फ्लोरीन— गोभी, बकरी के दूध, नारियल आदि में पाया जाता है। यह मोटापे को कम करता है और शरीर को दुर्बल होने से बचता है।

(१०) क्लोरीन— लाल गाँठ गोभी, शलजम आदि में पाया जाता है। हड्यिों को दृढ़ बनाता है और आँखों की रक्षा करता हैं।

(११) लोहा— गाजर, पालक, चोकर आदि में पाया जाता है यह खून को बढ़ाता है और रोगों से बचाता है।

(१२) पोटेशियम— जैतून का सूखा फल, पिपरमेन्ट में पाया जाता है।

(१३) मैगनीशियम— सन्तरा, खजूर, नारियल आदि में पाया जाता है। यह खून को खारी बनाता है, दाँतों को मजबूत बनाता है और गहरी निद्रा लाता है।

(१४) सिलकिन— जई, जौ का दलिया, चावल, कच्चा दूध, आलू का छिलका चोकर आदि में पाया जाता है। यह बुद्धि को बढ़ाता है और शरीर को विषैले प्रभाव से बचाता है।

निम्नलिखित सात चीजें न्यूनाधिक में पाई जाती हैं। इनका उचित मात्रा में प्रयोग शरीर की शक्ति को स्थिर रखने के लिए जरूरी है। वैज्ञानिकों ने अन्वेषण करके यह बता दिया है कि किस पदार्थ में निम्न चीजें किस मात्रा में होती हैं और उनका प्रयोग किस मात्रा में होती हैं और उनका प्रयोग किस मात्रा में करना चाहिए।

१. प्रोटीन — शरीर को बढ़ाने और बनाने वाले अङ्ग दूध, घी, दही, अंकुरित चना, गेहूँ, दलिया से मिलता है।

२. चिकनाई — इसका काम गरमी और शक्ति पैदा करना है। जो दूध, घी, मक्खन व तेल से मिलता है।

३. कार्बोहाइड्रेट — इसका काम भी गर्मी व शक्ति देना है, जो अनाजों, मीठे फलों व खजूर में मिलता है।

४. मिठास — शक्कर, शहद, किशमिश, मुनक्का, अंगूर व अन्य मीठे फलों से मिलता है।

५. नमक — सब्जी व तरकारियों से जो नमक मिलता है वही असली नमक है।

६. पानी — शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पानी की बड़ी आवश्यकता है।

७. विटामिन — इनकी व्याख्या आगे की गई है।

विटामिन

नये विज्ञान में विटामिनों को बहुत ऊँचा दरजा दिया गया है इनको कमी से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। मुख्य विटामिन ए.बी.सी.डी. व ई. हैं।

विटामिन ए.

यह शरीर को बढ़ाता है, फेफड़ों को बल देता है, छूत के रोगों से बचाता है। आँखों में रोग होने से रोकता है। इसकी कमी से नाक, कान, आँख, फेफड़े व दाँत के रोग हो जाते हैं। यह दूध, घी, मक्खन, पनीर, पालक, बथुआ, गोभी, शलजम के पत्ते, हरी धनियाँ व सहजना की पत्तियों में पाया जाता है। च्वयनप्राश में भी विटामिन रहता है। हरी धनिया में यह इतना होता है कि एक सौ ग्राम हरी धनिया खाने से १२ घण्टे के लिए विटामिन ए. मिल सकता है।

विटामिन बी.

हृदय, मस्तिष्क व नसों को स्वस्थ व ताजा रखता है, भूख, बढ़ाता है, रगों, पट्ठों और आँतों को शक्ति देता है। बेरीबेरी रोग को दूर करता है। इसकी कमी से मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है। बदहजमी, दस्त, कब्ज व पेट का दर्द दूर होता हैं। यह गेहूँ, जई, मकई, साठी चावल, सोयाबीन, मटर, दाल, चना, टमाटर, मूँगफली, अखरोट, खजूर, पपीता, अमरूद में पाया जाता है। जई, सोयाबीन व मूँगफली में इतना होता है कि १०० ग्राम खाने से १४ घण्टे के लिए विटामिन बी. मिल जाता है। जीवन तत्त्व साधन करने से यह विटामिन बहुत बढ़ जाता है और पेट, रंगों व पट्ठों के अनेक रोग दूर होकर भूख लगने लगती है खाना हजम होने लगता है और खून बढ़ने लगता है। विटामिन बी. के कई भाग हैं। अभी तक १२ का अनुसन्धान हो चुका है।

विटामिन सी.

रक्त को शुद्ध करता है। हड्डियों व दाँतों को शक्ति देता है। छूत के रोगों से बचाता है। इसकी कमी से भूख कम लगती है। दाँत व मसूड़ों में पीव पड़ जाता है। हाथ-पैरों में दर्द और जोड़ों में सूजन आ जाती है यह सबसे अधिक आंवला में पाया जाता है। १०० ग्राम आंवला खाने से १०० घण्टे के लिए विटामिन सी. मिल जाता है। नीबू, नारंगी, नासपाती, टमाटर, अंगूर, सेव आदि फलों में भी पाया जाता है, जीवन तत्त्व साधन करने से यह विटामिन भी बढ़ जाता है।

विटामिन डी.

हड्डियों को दृढ़ तथा स्वस्थ रखता है। बच्चों को अत्यधिक लाभदायक है। इसकी कमी से कमजोरी चिड़चिड़ापन तथा हड्डियों में निर्बलता आती है। चेहरा फीका पड़ जाता है। दौरे की बीमारी हो जाती है, सर्दी-जुकाम जल्दी-जल्दी होने लगता है। शरीर की बाढ़ रुक जाती है, बच्चों को सूखा रोग हो जाता है। हाथ-पैर दुबले हो जाते हैं। यह सूर्य की धूप में अधिकता से पाया हैं। यह सूर्य की धूप में अधिकता से पाया जाता है। दूध, घी, गाजर, मेंथी, पपीता में पाया जाता है।

विटामिन ई.

स्त्रियों के बांझपन तथा गर्भपात को रोकता है। मनुष्य में सन्तान की उत्पत्ति की शक्ति देता है। इसकी कमी से पेशाब के स्थान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यह गेहूँ तथा दूसरे अनाजों के अंकुरों में, हरे साग-पात, ताजे दूध, मक्खन, मटर के छोटे पौधे, शकरकन्दी और चोकर में पाया जाता है।

'जीवन तत्त्व' साधन करने वालों को विटामिन ए.बी.सी.डी. व ई. पर्याप्त मात्रा में मिलने लगता है। और उसका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है। शक्ति व उत्साह में वृद्धि हो जाती है।

भोजन को नापने का एक उपाय बताया गया है जिसे कैलोरी कहते हैं। हर मनुष्य को चौबीस घन्टे में २५०० से ३००० कैलोरी का भोजन करना चाहिए। विज्ञान ने यह बता दिया है कि किस भोजन के पदार्थ में कितने तत्त्व, गुण व कैलोरी है। अर्थात् किसी खाद्य पदार्थ को एक छटाँक खाने से कितनी देर तक उसका प्रभाव रहता है। जैसे १०० ग्राम गेहूँ खाने से हमें ढाई घण्टे के लिए प्रोटीन, एक घन्टे के लिए कैल्शियम, ४११ घन्टे के लिए फास्फोरस, ३११ घन्टे के लिए लोहा, १२ मिनट के लिए विटामिन ए. और ८ घंटे के लिए विटामिन बी. १ तथा १६७ कैलोरी शक्ति मिलती है। प्रति १०० ग्राम खाद्य पदार्थों के गुण तत्त्व घन्टों के लिए दिये गये हैं जो किसी भी आहार पुस्तिका में देखे जा सकते हैं और उसी के अनुसार हम अपने भोजन को नापकर जान सकते हैं कि हम भोजन करते हैं वह पर्याप्त गुण, तत्त्व व कैलोरी युक्त है या नहीं।

यदि हमारा भोजन ३००० कैलोरी तथा पर्याप्त गुण तत्त्व व विटामिन देने वाला है तो हम 'हित भुक्' के अनुसार भोजन करते हैं। अन्यथा हमको अपने भोजन में परिवर्तन करना चाहिये।

अवधूत योगी श्री कृपालानन्द जी

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी द्वारा लिखित अवधूत योगी कृपालानन्दजी का यह चरित्र हम उनकी 'आठ योगी' नामक पुस्तक से सभार प्रकाशित कर रहे हैं।

यह उपयोगी, पठनीय पुस्तक श्री सिद्धगुफा प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई से मूल्य भेजने पर प्राप्त हो सकती है।)

— सम्पादक

ऋषिकेश से लगभग नौ मील ऊपर पुण्य-तोया भागीरथी के पावन किनारे-किनारे ब्रह्मपुरी नाम का एक पवित्र बन है। अपनी उत्तराखण्ड की यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व हमारे सद् गुरुदेव योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ने कुछ समय इस पवित्र वन में निवास किया था। उन्हीं दिनों अवधूत योगी श्री कृपालनन्द जी भी इस वन में रहा करते थे। अखण्ड मण्डलाकार तेजयुक्त परम सिद्ध श्री प्रभुजी की वास्तविकता को यह पहचानते थे, अत: इनके प्रति कृपालानन्द जी के हृदय में स्वाभाविक ही अत्यन्त सम्मान एवं प्रेम का भाव उदय हो गया था। प्राय: कृपालानन्दजी श्री प्रभुजी के पास आकर ज्ञान-चर्चा किया करते थे।

आनन्दकन्द जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भगवद् गीता में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार कहा है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टास्म कांचन:।।

श्री. भ. गी. अ. ६/८

अर्थात् जिसका आत्मा ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण है और जो बिल्कुल विकार रहित स्थिति में पहुँच गया है तथा सब प्रकार से इन्द्रियजयी है, ऐसा योगी युक्त योगी कहलाता है। 'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा' पद का तात्पर्य है कि प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझकर उन पर नियन्त्रण प्राप्त करना तथा संयम के बल से सकल सिद्धियों को प्राप्त करना और पूर्ण आत्म साक्षात्कार करना। हमारे पूर्व आचार्यों ने योग-विद्या की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह शब्द कहे हैं—

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति।

अर्थात् जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है। इस महती विद्या के सकल ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए योगाचार्यों ने दो मार्गों का वर्णन किया है। उनमें से एक मार्ग औपनिषदिक सिद्धान्त का है जिसका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार किया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु
इन्द्रियेभ्यो परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धि-
यो बुद्धे: परतस्तु स:।।

श्री. भ. गी. अ. ३/४२

अर्थात् योगी पहले अपनी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे, फिर मन का करे, उसके बाद बुद्धि का साक्षात्कार और तदन्तर आत्म-साक्षात्कार करें। किन्तु इस मार्ग में थोड़ी सी कठिनता है क्योंकि इन्द्रियों के सूक्ष्म धर्मों को समझना कठिन है। उससे भी बढ़कर मन और बुद्धि को समझना तो और भी कठिन है। और आत्म-साक्षात्कार तो उससे भी बहुत आगे की वस्तु है। दूसरा मार्ग सर्वसाधारण के कल्याणार्थ हमारे आचार्यों ने वह बताया जिस पर चलने से हर व्यक्ति ही अपना कल्याण कर सकता है। इस मार्ग का संकेत योगाचार्य भगवान् पतञ्जलि महाराज ने 'वीतराग विषयं वा चित्तम्'' कहकर दिया हैं। अर्थात् वीतराग पुरुषों को हम अपना ध्येय बनाकर उनके मन में अपना मन, अपना ध्येय बनाकर उनके मन में अपना मन, उनके चित्त में अपना चित्त, उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि और उनके अहंकार में अपना अहंकार विलीन कर दें तो तो थोड़े समय में ही समाधि-लाभ कर सकते हैं। इस स्थिति में उनकी उपार्जित सिद्धियाँ हमारी अपनी होंगी और कालान्तर में उनके स्वरूप में लय होकर हम कैदल्य-भाव को भी अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

अवधूत श्री कृपालानन्दजी इस दूसरे मार्ग के ही अनुयायी थे। उनके ध्येय थे भगवान् सदाशिव, अत: वह सदा शिवलीन रहा करते थे। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार अवधूत श्री कृपालानन्द जो अपने मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार को भगवान् सदाशिव के मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार में विलीन किये रहते थे। भगवान्-शिव में लीनता के कारण ही अवधूत कृपालानन्द जी को भगवान् सदाशिव की शक्तियाँ सहज भाव से प्राप्त थीं। युक्त योगी होने के कारण उस वन में रहने वाले अन्य सभी महात्मा उनका अत्यन्त आदर करते थे। वे परम विरक्त-भाव से सदा अवधूत वृत्ति में विचरा करते थे।

एक दिन मंसूरी के वनों में घूमते हुए एक अंग्रेज दम्पत्ति आ पहुँचे। वहाँ एक साधना में लीन महात्मा के दर्शन होने से उस अंग्रेज स्त्री के हृदय में भी वैसी साधना कर ईश्वर प्राप्ति की इच्छा जाग्रत हो गयी। उस स्त्री ने उन महात्मा के चरण पकड़कर उस मार्ग का

उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा ने योगबल से समझ लिया कि इसका संस्कार महात्मा कृपालानन्द जी से है। अत: उन्होंने उस अंग्रेज महिला को ब्रह्मपुरी के वन में जाने की आज्ञा देते हुए कहा— योगिराज कृपालानन्द जी के द्वारा ही तुम्हें यह अन्तर्निधि प्राप्त होगी। उनके द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त होगा। उनके द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त होगा। वह अंग्रेज स्त्री बड़ी दृढ़ लगन वाली थी। अत: पति को वापिस करके खोजते-खोजते वह ब्रह्मपुरी के वन में जा पहुँची और यत्र-तत्र कृपालानन्द जी का अन्वेषण करने लगी। इसी प्रयास में रात्रि हो गई, भयभीत होकर तब उसने भगवान् से कातर-स्वर में प्रार्थना की। अकस्मात् कृपालानन्द जी नग्न रूप में विचरण करते हुए उधर ही आ निकले। देखते ही उस देवी ने अवधूत जी के चरण कमल पकड़ लिये। पहले तो उन्होंने उसे हतोत्साहित करने का प्रयास किया। अन्त में उसकी दृढ़ लगन देखकर उसे योगाभ्यास का विधि बताई और वहीं पर कुटी बनाकर उसे रहने की आज्ञा दे दी। वह देवी अपने गुरुदेव की आज्ञा का यथावत् पालन करती और कन्दमूल खाकर अपनी साधना में तत्पर रहती थी। परिणामत: उसमें कई चमत्कारिक शक्तियों का प्राकट्य हुआ।

जिन दिनों आनन्दकन्द प्रभु श्री रामलाल जी महाराज वहाँ पहुँच थे, तब यह देवी भी वहाँ निवास किया करती थी। इसके अतिरिक्त हीरागिरि नाम के एक अन्य महात्मा से भी परिचय हुआ। परिचय बढ़ने पर श्री प्रभुजी और वह महात्मा साथ-साथ गंगा-स्नान करके कन्दमूल खोद लाते और साथ ही बना लिया करते थे। कभी-कभी कृपालानन्दजी भी उस ओर आ जाते थे। महात्मा हीरागिरि अवधूत कृपालानन्द जी के प्रति कुछ उपेक्षा का भाव रखा करता था। अवधूत उसके मनोभाव समझ गये और उन्होंने उसे शिक्षा देने का निश्चय किया।

अवधूत श्री कृपालानन्द जी प्रात:काल ब्रह्ममुहूर्त में ही पवित्र गंगा की धारा में स्नान करके गंगा-तट पर ही समाधिस्थ होकर बैठ जाया करते थे। दोपहर बाद लगभग दो बजे के उपरान्त वह समाधि से उठते थे। उठने के पश्चात् उस वन में जो कोई भी साधु कन्दमूल बनाकर तैयार कर लेता उसे वे दिव्य-दृष्टि से देखकर उसके पास मनोजविता से तत्काल जा पहुँचते और उससे आधा भोजन लेकर खा लिया करते थे। वह स्वयं कन्दमूल न बनाकर नित्य इसी प्रकार भोजन पा लिया करते। ब्रह्मपुरी के वन में रहने वाला कोई भी महात्मा उनके इस नैत्यिक कार्यक्रम से कृपालानन्द जी से रुष्ट नहीं होता था क्योंकि सभी को उनकी दिव्य स्थिति का ज्ञान था। सब जानते थे कि यह सब प्रकार से परिपूर्ण भगवान सदाशिव के रुप ही हैं। अत: जिसके यहाँ भी जाकर वे भोजन करते वही इसे अपना अहोभाग्य समझता और उनके पुनरागमन की प्रतीक्षा किया करता। परन्तु महात्मा हीरागिरि उनके इस व्यवहार से बहुत ही चिढ़ता था, इसी कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव रखते हुए कहता— ठीक हे, कृपालानन्द जी युक्त योगी हैं और हम सब युंजन योगी हैं। लेकिन कालान्तर में हम भी युक्तता को प्राप्त होंगे ही। कृपालानन्द भी हमारे बराबर का भाई ही तो है।

योगिराज कृपालानन्द जी ने उसके मनोभावों को जान लिया था। अत: अब भोजन के लिए अन्य किसी महात्मा के यहाँ न जाकर वे नित्य ही उस महात्मा हीरागिरि के स्थान पर ही पहुँचने लगे। दो-तीन दिन तो वह चुप रहा और मन मारकर सहता रहा। एक दिन कृपालानन्द जी को भोजन के तैयार हो जाने पर आया हुआ देखकर उसे बड़ी खीझ हुई।

जैसी ही कृपालानन्द जी ने अपना भाग मांगा, वैसे ही वह क्रोध में भरकर बोला— क्यों दे दें तुझे कन्दमूल? क्या तू खोद कर रख गया था? जंगल में पड़ा हैं कहीं से भी खोद ला और बनाकर खा ले। किन्तु अवधूत कृपालानन्द जी ने उसके इन क्रोधयुक्त वचनों पर कोई ध्यान नहीं दिया और चुपचाप उसके बनाये कन्दमूल में से अपना भाग स्वयं ही लेकर खाने लगे और हँसते हुए चल दिए।

हीरागिरि इस पर बहुत ही चिढ़ गया और कहने लगा— 'देखो, महात्मा होकर भी क्या आदत डाली है इसने? आया और खा गया जैसे इसके माँ-बाप खोदकर और बनाकर इसके लिए ही रख गये हों। हीरागिरि ने अगले दिन इस मुसीबत से बचने के लिए भोजन के समय से बहुत ही पहले कन्दमूल बना डाले और ी प्रभुजी से बोला— उस कष्ट कृपालानन्द के आने से पूर्व ही खा लेते हैं। फिर अवधूत आकर खाली पात्र देखकर स्वयं ही लौट जायगा। अभी उसने भोजन परोसा ही था कि सामने से मुस्कराते हुए कृपालानन्द जी आते दिखाई पड़े। आते ही बोले— 'भाई हीरागिरि बड़ा अच्छा किया जो तुमने जल्दी ही कन्दमूल तैयार कर लिया। आज तो जल्दी ही भूख लग आई है।' विवश महात्मा हीरागिरि को नित्य की भाँति तीन भाग करने पड़े, इधर कृपालानन्द जी तृप्त होकर चल दिये।

महात्मा हीरागिरि बड़ी उलझन में था— कैसे इस अवधूत से पिण्ड छूते? उसे एक उपाय सूझा वह यह कि अगले दिन उसने भोजन के समय तक कन्दमूल खोदे ही नहीं। उसका विचार था भोजन के समय अवधूत आयेगा तो कह दूँगा- भाई, यदि तुझे कन्दमूल खाने हैं, तो खोद ला और बनाकर खा ले। मुझे तो खाना नहीं था, इसीलिए बनाया नहीं है। परन्तु आश्चर्य की बात कि उस दिन भोजन के समय योगी कृपालानन्द आये ही नहीं। जब भोजन का समय निकले दो घण्टे हो चुके, तब हीरागिरि वन में जाकर कन्दमूल खोद लाया और बनाने लगा। मन में वह प्रसन्न था और नित्य ही इसी उपाय से कृपालानन्दजी से बचने का उपाय सोच चुका था। कन्दमूल बनकर तैयार ही हुआ था कि कृपालानन्द जी आ पहुँच और हँसकर बोले— भाई हीरागिरि तू हमारा बड़ा ख्याल रखता है। तुझे कैसे पता चल गया कि आज हमें भूख नहीं लगी है इसलिए हम देरी से आयेंगे। वैसे तो आज बिना खाये ही रहना पड़ता, लेकिन जब तूने इस समय बना ही रखा है; तो ला— थोड़ा सा खा लेते हैं। मन ही मन हीरागिरि को बेहद क्रोध आया और बोला— तुम कुछ समाधि-अमाधि नहीं लगाते,केवल भोजन की समाधि लगाते हो। इस समय

कहाँ कन्दमूल मिलेगा। बस यही देखा करते हो। इसके बाद हीरागिरि नित्य स्थान परिवर्तन कर करके कन्दमूल तैयार करने लगा। किन्तु श्री कृपालानन्द जी की दिव्य दृष्टि से कोई भी स्थान बच न सका और वह अपनी मनोजविता से प्रत्येक स्थान पर पहुँचकर हीरागिरि के यहाँ ही नित्य भोजन करते रहे।

महात्मा हीरागिरि के हृदय में प्रतिशोध की भावना अधिक जाग्रत हो गई। उसने एक दिन चुपचाप धतूरे के सेर पत्तों का साग बना डाला और मन में कहने लगा— आज महात्मा को अचानक आने का मजा मिल जायेगा। उधर श्री प्रभुजी ने भी अपने कन्दमूल भूनकर तैयार किए हुए थे। ठीक समय पर कृपालानन्द जी आए। श्री प्रभुजी ने अपने कन्दमूलों के तीन भाग करके एक भाग कृपालानन्द जी के सम्मुख रख दिया। हीरागिरि ने धतूरे का सारा साग कृपालानन्दजी के सम्मुख रख दिया। तब अवधूत कृपालानन्द बोले— ''क्यों रे हीरागिरि मरने को हम ही रहे हैं क्या? हम तुम दोनों ही क्यों न मरें? इस साग का तू भी खा और हम भी खाते हैं। श्री प्रभुजी इस रहस्य से अनभिज्ञ थे, अत: आश्चर्य में भरकर कहने लगे— महाराज, क्या हुआ? ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं? तब कृपालानन्द बोले— आज यह हमें मारने के लिये धतूरे के पत्तों का साग बनाकर लाया है।

श्री प्रभुजी ने कहा— आप उसे मत खाइये, आप केवल मेरे वाले कन्दमूल ग्रहण कीजिए। परन्तु अवधूत कहने लगे— बेचारे ने बड़े प्रेम से बनाया है। हम इसे अवश्य खायेंगे। ऐसा कहकर उस साग के तीन भाग करके एक प्रभुजी के सामने भी रख दिया और कहा— तुम इसे निश्शंक खाओ, हम भी खाते हैं। परन्तु फल यह दुष्ट हीरागिरि ही भागेगा। तीनों ने वह साग खाया किन्तु श्री प्रभुजी और कृपालानन्द पर धतूरे के विष का कोई प्रभाव नहीं हुआ। परन्तु थोड़ा-सा साग खाते ही हीरागिरि की दशा बिगड़ने लगी और थोड़ी-सी देर में विष के प्रभाव से वह मूर्च्छित हो गया।

श्री प्रभुजी से कृपालानन्द जी ने कहा— तीन दिन तक यह अपने किये का आनन्द भोगेगा। तीन दिन बाद होश में आते ही हीरागिरि बोला— हम अब इस दुष्ट कृपालानन्द की अपने योगबल से खबर लेंगे और चुपचाप नित्य की भाँति कन्दमूल बनाकर तैयार किये। मध्याह्न होने पर अवधूत श्री कृपालानन्द जी आये और हँसकर बोले— कहो हीरागिरि अभी कुछ और मन में है? श्री प्रभुजी हँस पड़े अवधूत कहने लगे— अब यह योगबल से हमें अवधूत कहने लगे— अब यह योगबल से हमें बदला देगा। हम उस समय भी इसकी खबर लेंगे। तत्पश्चात् कन्दमूल का भोजन करके तीनों व्यक्ति बैठकर चर्चा करने लगे।

उस समय हीरागिरि अपना अपमान समझकर बहुत ही क्रोध में था। उसी दशा में उसने विचार किया— आज जब यह अवधूत ध्यानस्थ होगा, उसी समय जाकर इसका मुख कालिख से काला करूँगा। कृपालानन्द जी पूर्ण योगी थे, तत्काल उसके मन का विचार जान गये और वहीं समाधि लगाकर बैठ गये। दोनों हाथों हाथों को कालिमा से काला करके जैसे ही वह बढ़ा— उनके आसन के नीचे से ततैयें निकलकर हीरागिरि के मुख को चिपट गयीं। उनसे बचने के लिए अनजाने हो उसने अपने दोनों काले हाथों को अपने मुख पर ही लगा लिया। फलत: कृपालानन्द जी के बजाय उसका स्वयं का ही मुख काला हो गया। श्री कृपालानन्द जी की इन चमत्कारिक शक्तियों को देखकर हीरागिरि कुछ भयभीत सा हो गया, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से न निकल सकी।

एक दिन श्री प्रभुजी के निवास स्थान पर हीरागिरि, कृपालानन्द और कृपालानन्द की अंग्रेज शिष्या सब एकत्रित थे। हीरागिरि कहने लगा— अवधूत जी, आपका तन तो अति कृश है। हमें तो आपसे एक कार्य कराना था। कृपालानन्द जी बोले— निस्संकोच कहो, क्या काम है? हीरागिरि बोला— हम चाहते थे कि इस ब्रह्मचारी (प्रभुजी) की शिला यहाँ से उठाकर हमारे स्थान पर ले जाकर रख दी जाती— तो बड़ा अच्छा होता।

वहाँ से हीरागिरि का स्थान दो मील दूर था और शिला का वजन सैकड़ों मन था। तत्काल कृपालानन्द जी ने अपनी अंग्रेज शिष्या को आज्ञा दो— जाओ, यह शिला उठाकर वहाँ रख आओ। आज्ञा पाकर वह देवी श्री कृपालानन्द जी की परिक्रमा करके एवं चरण-कमलों में प्रमाण करके उस शिला पर सिद्धासन से बैठ गई। थोड़ी देर में ही वह शिष्या शिला सहित आकाश-मार्ग से जाकर, यथा-स्थान, शिला को रखकर आकाश-मार्ग से ही वापिस आ गई। आकर अपने गुरुदेव को प्रणाम करके बैठ गई। इस चमत्कार को देखकर हीरागिरि बहुत ही लज्जित होकर कृपालानन्द जी का मान सम्मान करने लगा।

अवधूत कृपालानन्द जी पूर्ण योगिराज थे और वे भगवान सदाशिव में लीन रहने के कारण उन्हीं के सदृश शक्ति सम्पन्न रहते थे। युक्त-योगियों की श्रेणी में आदर्श स्थान रखते थे। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी से वे मिश्रता का नाता मानते थे।

बड़े गुरुभाई श्री हरिहरानन्द जी

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(अपने बड़े गुरु भाई श्री हरिहरानन्दजी के संस्मरण सम्बन्धी गुरुदेवजी का यह लेख योगी की दिव्य शक्तियाँ कैसी और क्या हो सकती हैं इसका स्पष्ट सा प्रमाण है।)

— सम्पादक

इस छोटी-सी पुस्तिका 'आठयोगी' को लिखते समय सहसा मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैं अपने बड़े गुरु-भाई हरिहरानन्द जी का कुछ वर्णन करूँ। हरिहरानन्द जी बलिया जिले के किसी ग्राम के निवासी हैं। पवित्र ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। इनके माता-पिता ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनका यथायोग्य पालन-पोषण एवं शिक्षा-व्यवस्था की। तत्पश्चात् यह अपने ग्राम में ही रहकर साधारण कृषि-कर्म कराते रहें। भाई हरिहरानन्द जी का प्रारम्भिक नाम हरराम शर्मा था। इन्होंने युवावस्था प्राप्त करके सभी श्रेष्ठ कार्य किये, परिहित-चिन्तन और साधु-सेवा से इनको बड़ी लगन थी। न तो इनको स्वयं कुकर्म करने की वृत्ति थी और न दूसरे को कुकर्म करते देख सकते थे। स्वभाव से यह बड़े ही साहसी एवं निर्भय थे अर्थात् अत्याचार का विरोध करने में किसी से भी डरते नहीं थे।

यह जिस ग्राम में निवास करते थे वहाँ पर पुलिस-थाना भी था। संयोग से वहाँ कुछ इस प्रकार के अधिकारी आ गये थे जो बड़े दुस्साहसी थे। गाँव वालों पर अनेक अत्याचार करते थे। भाई श्री हरिहरानन्द जी को यह सब सहन नहीं था। अत: इन्होंने बड़ी निर्भयता से उनके इन कार्यों का विरोध किया। फलस्वरूप वह अधिकारी भी अब मनमाना व्यवहार नहीं कर पाते थे। इनकी यह प्रबल इच्छा रहती थी कि इनके गाँव में किसी भी प्रकार का दुष्कर्म न होने पाये। इसके लिए यह यथा सम्भव प्रयत्न करते रहते थे।

श्री सद्गुरु महाराज की दर्शन-प्राप्ति—

भाई श्री हरिहरानन्दजी के पड़ौस में एक दुश्चरित्रा स्त्री रहती थी, जिसका प्रभाव गाँव के युवक और युवतियों पर बड़ा बुरा पड़े रहा था। पहले तो भाई जी ने उसे समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयास किया। परन्तु उसका कुकर्म करने का स्वभाव बन चुका था। अत: उस स्त्री को समझ नहीं आई और वह अधिकाधिक कुकर्म में प्रवृत्त होती गई। हरिहरानन्द जी ने जब यह देखा कि इसमें सद्भाव उत्पन्न नहीं हो रहा है तो उन्हें कड़ा उपाय अपनाने का विचार करना पड़ा। एक दिन इन्होंने उस स्त्री को कड़े ढंग से ताड़ना देनी प्रारम्भ की, तब वह स्त्री जोर-जोर से रोने और चिल्लाने लगी। उन दिनों आनन्दकन्द योग योगेश्वर सद्गुरुदेव श्री रामलालजी महाराज उसी गाँव में विराजमान थे। उस स्त्री को पिटते हुए देखकर करुणासागर श्री प्रभुजी को बड़ी दया आई। अपने पास आने वाले सत्संगियों से उन्होंने पूछा यह लड़का कौन है? वह इस स्त्री को क्यों पीट रहा है? सत्संगियों में से एक ने विनयपूर्वक कहा— प्रभो, यह ब्राह्मण बालक है। और बड़ा चरित्रवान् है। यह पिटने वाली स्त्री बहुत ही दुश्चरित्रा है। यह इस प्रकार की ताड़ना के ही योग्य है।

इस प्रकार के शब्द सुनकर उस ब्राह्मण नवयुवक के प्रति श्री प्रभुजी का हृदय बड़ा प्रसन्न हुआ और उन्होंने एक सत्संगी को आज्ञा दी इस बच्चे को हमारे पास बुलाकर लाओ। श्री प्रभुजी को आज्ञानुसार एक व्यक्ति वहाँ से उठकर गया और हरिहरानन्द जी को श्री प्रभुजी के चरण-कमलों के समीप ले आया। उनके वहाँ आने पर श्री प्रभुजी ने उनकी पीठ ठोकते हुए कहा— बेटा, तुम किसके बालक हो?

भाई हरिहरानन्द जी ने भी प्रभुजी के सम्मुख हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा— मैं इसी गाँव का रहने वाला एक ब्राह्मण बालक हूँ। तब मुस्कराते हुए श्री प्रभुजी ने कहा— बेटा, ब्राह्मण तो बड़े दानी होते हैं ब्रह्माण के कर्म वेद पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना होते हैं। तुम यह बतलाओ कि तुमने केवल लेना ही सीखा है या कुछ देना भी जानते हो? भाई हरिहरानन्दजी ने उत्तर दिया— प्रभो! मैं ब्राह्मण हूँ। आपकी कृपा से मुझे दान देना भी आता है। तब श्री प्रभुजी ने कहा— यदि तू दान दे सकता है तो तू हमें अपना सिर दे दे। श्री प्रभुजी के मुख से निकले इन वचनों को सुनकर हरिहरानन्दजी ने प्रसन्न मुख होकर कहा– अवश्य, आपकी इच्छानुसार ही दान दूँगा। परन्तु मुझे तीन दिन का समय दे दीजिये। जिससे मैं घर के सारे कार्य निपटाकर तैयार होकर आ जाऊँ। फिर आप बड़ी प्रसन्नता से मेरा सिर उतार लीजियेगा। श्री प्रभुजी ने प्रसन्न मन से उसे आज्ञा दे दी। तीन दिन का अवकाश प्राप्त कर हरिहरानन्द जी अपने घर गये और अपना लेना-देना निपटाकर अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिगा। फिर तलवार हाथ में लेकर तीसरे दिन नियत समय पर श्री प्रभुजी के चरण कमलों में आकर उपस्थित हो गए और विनम्रतापूर्वक बोले— महाराज! सेवक उपस्थित है। आप बड़ी प्रसन्नता से अब मेरा सिर ले लें। किन्तु यदि

आप मेरा सिर यहीं जन-समुदाय के सम्मुख उतारेंगे तो इन लोगों को बड़ी भ्रान्ति हो सकती है। सम्भवतया आपको व्यर्थ कुछ कष्ट देने लगें। अतः आप नदी किनारे किसी वन में जाकर मेरा सिर उतार लें।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का हृदय बालक के इन भावपूर्ण वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। श्री प्रभुजी हरिहररानन्द जी को साथ लेकर वन के एक सघन कुञ्न में पहुँचे और बोले- यदि तुम्हारे सिर को हम उतारेंगे तो हमें ब्राह्मण-वध का पाप लगेगा।

अतः तुम स्वयं ही अपना सिर काटकर हमें दे दो। श्री प्रभुजी की ऐसी आज्ञा पाकर भाई हरिहरानन्दजी ने तलवार उठाकर अपने सिर को काट देने का प्रयास किया। किन्तु ज्यों ही तलवार उनकी गर्दन पर लगने वाली थी, त्यों ही एकदम प्रभुजी ने उनका हाथ पकड़कर तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े करके फेंक दिया। फिर भाई हरिहरानन्द जी कों अपने कण्ठ से लगाकर श्री प्रभुजी ने कहा— बेटा, तेरी भक्ति दृढ़ता से हमारा हृदय अत्यन्त प्रसन्न है। बेटा, तू तत्वविजयी महासिद्ध होगा। योग-योगेश्वर सद्गुरुदेव श्री प्रभुजी से हार्द-दीक्षा पाकर भाईजी कृतार्थ हो गए और उनका जीवन धन्य हो गया। उसी समय से उनके हृदय में दिव्य महाशक्ति का स्फुरण हुआ और वह बड़े-बड़े दिव्य दृश्यों को देखने लगे। भाईजी को ध्यानस्थिति का विकास बड़ी तीव्रता से हुआ। उन्होंने दिव्य-दृष्टि पाकर अपने असम्प्रज्ञात योग की प्रथम श्रेणी में ही बहुत कुछ देख डाला। अतल, वितल, तलातल, महातल रसातल और पाताल आदि नीचे के और भू, भुवः महः, जनः, तपः, सत्यम् आदि ऊर्ध्व लोकों का पूर्णतया साक्षात्कार कर लिया। इनका चित्त यकायक ही समाहित हो गया। हरिहरानन्द जी का वह नवयुवावस्था का समय था, अतः समाहित स्थिति को पाकर जो सिद्धियाँ उनके सम्मुख उपस्थिति हुई उनका उन्होंने कई जगह उपयोग किया। कई व्यक्तियों पर उन्होंने शापानुग्रह किया।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की इस परम कृपा को उपलब्ध कर भाई श्री हरिहरानन्द जी का हृदय श्री प्रभुजी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम से भरा रहने लगा। वह प्रतिपल श्री प्रभुजी को चरण-सेवा में लगे रहते थे, यह उनका नियम था। अर्थात् जिस वस्तु को जिस समय श्री प्रभुजी को आवश्यकता होती थी, उसे ध्यान-दृष्टि से देखकर तत्काल उपस्थित कर दिया करते थे। जिस समय वह देखते कि श्री प्रभुजी को भूख लगने लगी है, तो पहिले ही भोजन तैयार कर रख लिया करते थे प्यास लगने पर पहिले से जल ले जाकर उपस्थित हो जाते थे। सारांश यह कि श्री प्रभुजी को मुख से कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी और भाईजी पहिले से ही वह वस्तु लेकर उपस्थित हो जाते थे। इस प्रकार भाई श्री हरिहरानन्द जी श्री प्रभुजी की सेवा में निरन्तर तत्पर रहा करते थे। श्री प्रभुजी का हृदय उनके इस सेवा-भाव में अत्यन्त प्रसन्न रहता था। फलस्वरूप उन्होंने अनेकों अलौकिक शक्तियों को सहज ही प्राप्त कर लिया था। भाई श्री हरिहरानन्दजी के जीवन में अनेकों अलौकिक एवं चमत्कारिक घटनायें घटीं जो उनकी अद्भुत शक्ति की परिचायका रहीं।

बड़े गुरुभाई श्री हरिहरानन्द जी

विशेष लेख :– योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(अपने बड़े गुरु भाई श्री हरिहरानन्द जी के संस्मरण सम्बन्धी गुरुदेवजी का यह लेख योगी की दिव्य शक्तियाँ कैसी और क्या हो सकती हैं इसका स्पष्ट सा प्रमाण है।)

— सम्पादक

वृट वृक्ष

एक बार श्री प्रभुजी नर्मदरा के वनों की यात्रा कर रहे थे। उनके साथ भाई हरिहरानन्द जी भी थे। अकस्मात् घूमते-घामते नर्मदा के तट पर बसे एक गाँव में जा पहुँचे। उस गाँव से थोड़ी दूर वन में एक विशाल वट-वृक्ष था। वट के नीचे एक सुरम्य चबूतरा बना हुआ था। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि कोई भी यात्री वहाँ रात्रि वास नहीं कर पाता था। उस गाँव के लोगों का विश्वास था उस जंगल में वट वृक्ष के नीचे जो भी साधु महात्मा रात्रि वास करेंगे वह अवश्य ही मर जायेंगे। श्री प्रभुजी जब उसी वट वृक्ष के नीचे रात्रि वास करने का विचार करने लगे तो गाँव वालों ने कहा— महाराज, यह वन बड़ा भयानक है। जो भी उस वट वृक्ष के नीचे रात्रि वास करता है, वह अवश्य ही मारा जाता है। कौन मार देता है— यह तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। किन्तु सुनते हैं वहाँ बड़ी भारी प्रेत-व्याधा है। अत: गाँव का कोई भी व्यक्ति वहाँ जाने का साहस ही नहीं करता। आप साधु महात्मा है, यदि आपके साथ ऐसा कुछ हो गया तो हमारे गाँव पर बहुत बड़ा भार पड़ेगा। इसलिए आप से प्रार्थना हैं कि आप वहाँ न जाकर हमारे गाँव में ही किसी स्थान पर ठहर जावें। श्री प्रभुजी हँसकर कहने लगे– हमें तो ठहरने के लिए यही स्थान पसन्द आया है। तुमने वहाँ की प्रेत व्याधा की बात बताकर हमें सचेत करके अपना कर्तव्य पूर्ण कर लिया है। अब यदि हमें कुछ हो भी गया तो तुम लोगों का कोई दोष नहीं होगा।

इस प्रकार श्री प्रभुजी के मन में यही विचार दृढ़ रहा कि हम आज उसी वृक्ष के नीचे ठहरेंगे और वहाँ के उपद्रवों को दूर करके लोक-हित करेंगे। उस समय श्री प्रभुजी के साथ अन्य साधुओं को मण्डली भी थी। गाँव वालों से उन्होंने भी सुन रखा था कि उस वट वृक्ष के नीचे महान् उपद्रव होते हैं। अत: उन लोगों ने भी हाथ जोड़कर श्री प्रभुजी से प्रार्थना की— प्रभो! वहाँ जाना उचित नहीं। अवश्य ही वहाँ उपद्रव होते हैं। किन्तु श्री प्रभुजी लोकहित की भावना को ही दृढ़ रखा और भाई श्री हरिहरानन्दजी को साथ लेकर उस वृक्ष के नीचे ठहर गये। अन्य साधुओं की मण्डली भय के कारण उस वृक्ष से लभग आधे मील की दूरी पर ठहरी ताकि उन पर कोई आपत्ति न आ सके। सब कार्यों से निपटकर सब लोग शयन करने लगे।

रात्रि में घटना विपरीत ढंग से घटी। उस वट वृक्ष के नीचे तो कोई उपद्रव नहीं हुआ बल्कि आधी रात के समय वे सभी साधु रोने और चिल्लाने लगे— हाय रे! हम मारे गये। कैसी आपत्ति में पड़ गये? अब हम क्या करें? उन साधुओं को दीखा कि भयंकर प्रेत-समूह उन सबों को पीट रहा है।

साधुओं के उस आर्तनाद को सुनकर श्री प्रभुजी को बड़ी दया आई और उन्होंने भाई हरिहरानन्द जी से कहा— बेटा, जाओ। इन साधुओं के बीच में जाकर खड़े हो जाओ जिससे यह बेचारे इन प्रेतों की आपत्ति से बच सकें। श्री प्रभुजी की आज्ञा को पाकर तत्काल ही भाई हरिहरानन्द जी उस सब साधुओं के बीच में जाकर खड़े हो गये। उनके वहाँ पहुँचते ही वहाँ की सब बाधायें शान्त हो गयीं। सभी साधुओं ने श्री हरिहरानन्द जी के चरणों को पकड़ लिया और हाथ जोड़कर कहने लगे— महाराज! आज आपने हम सभी को बड़ी आपत्ति से बचाया हैं, अन्यथा हम सब साधु मारे जाते। महाराज आपके हम बड़े आभारी हैं।

अगले दिन प्रात:काल गाँव वाले वट-वृक्ष के नीचे रात्रि वास करने वालों का समाचार जानने आये और श्री प्रभुजी को पूर्णरूपेण सकुशल देखकर आश्चर्य में पड़ गये। उस साधु-मण्डली द्वारा इस घटना का प्रचार सारे गाँव में हो गया। सभी लोग श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ आने लगे— बड़ा भारी मेला सा लग गया। तब करुणासागर श्री प्रभुजी ने अपने मुखारविन्द से उन सभी गाँव वालों को आश्वास्त करते हुए कहा— अब से यहाँ कोई भय नहीं रहेगा। अब यह स्थान प्रेत व्याधा से सर्वदा मुक्त हो गया है। अब जो भो साधु महात्मा चाहेंगे वहाँ निश्चिन्तता से ठहर सकेंगे।

इन वचनों को सुनकर सब गाँव वालों का हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उन सबने मिलकर वहाँ एक बड़े भण्डारे का आयोजन किया। आस-पास के गाँवों के ब्राह्मणों और साधु-महात्माओं को निमन्त्रण भेज दिया गया। दो तीन कढ़ाव खीर बनो एवं पूरी और साग बनकर तैयार हो गया। आमन्त्रित अतिथियों के आ जाने पर ज्यों ही भण्डारे की पहली पंगत बैठाई जाने लगी त्यों ही कहीं से एक उद्दण्ड प्रकृति के महात्मा निकल आये उन महात्मा ने बड़ी साधना से भैरवजी को सिद्ध किया था। वह महात्मा प्राय: भण्डारों में जाकर

भैरवजी की शक्ति तुड़वा दिया करते थे। यही उनकी विशेष करामात थी। भण्डारे की सूचना-पाकर वह वहाँ भी आ पहुँचे थे।

आते ही उन महात्माजी ने गाली-गलौज करना प्रारम्भ कर दिया। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी तो उस समय अपने ढेरे में विश्राम कर रहे थे। अत: भाई श्री हरिहरानन्द जी पर ही उससे निबटने का भार आन पड़ा। भाई जी ने उस महात्मा को काफी समझाने बुझाने का प्रयत्न किया और उससे कहा— भाई तुम साधु हो। तुम्हें ऐसा अनर्थ नहीं करना चाहिये जिससे दूसरे लोगों की हानि पहुँचे। परन्तु जितना ही भाई जी समझाते थे उतना ही उस महात्मा का अहंकार पुष्ट होता चला गया। उसने अपना खप्पर फैलाकर कहा— मैं कुछ नहीं जानता। पहले मेरा खप्पर भर दो फिर अपना भण्डारा करते रहना। अन्यथा मैं वह कार्य करूँगा जिससे तुमको लेने के देने पड़ जायेंगे। अभी तुम सभी को भण्डारा करना सिखला दूँगा।

उसके इन कटु शब्दों को सुनकर ''अच्छा, अभी तेरा खप्पर भर देता हूँ'' ऐसा कहकर भाई हरिहरानन्द जी ने एक छोटी-सी लुटिया उठा ली और उसमें खीर भरकर उसके खप्पर में डालनी प्रारम्भ कर दी। सब लोग बड़े आश्चर्य में थे कि न तो खप्पर ही भरता था और न उस लुटिया की खीर ही समाप्त होती थी। ऐसा होते हुए घण्टे पर घण्टे बीतने लगे परन्तु कोई परिणाम सामने न आया। अन्त में भाई हरिहरानन्द जी ने अपनी योग-शक्ति से उसकी शक्ति को छीन लिया। ऐसा होते ही उसका खप्पर भर गया और उस छोटी लुटिया से अन्य सभी पात्र भी खीर से भर गये। सभी लोगों का बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। वह महात्मा अपनी शक्ति को गया जानकर रो-रोकर कहने लगा— महाराज! मेरी शक्ति वापस कर दो। अब आपके सम्मुख कभी नहीं आऊँगा। कृपा करके इस बार क्षमा कर दें। इस भारी कोलाहल को सुनकर श्री प्रभुजी जाग उठे और वहाँ आकर सबको शान्त कर दिया। उस महात्मा को यथोचित शक्ति यह कहकर दिला दी कि आज से आगे तुम कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकोगे जिससे लोगों का कोई अनिष्ट हो। उसके बाद भण्डारा खूब धूमधाम से सम्पन्न हुआ और सभी ने प्रसन्न-मुद्रा से भोजन किया। इस भण्डारे के उपरान्त श्री प्रभुजी वहाँ से चल पड़े और नर्मदरा के तट पर आगे बढ़े।

भैरवसिद्ध महात्मा पर अनुग्रह

वहाँ से दो-चार मील आगे चलकर श्री प्रभुजी ने फिर अपना डेरा डाल दिया। वहाँ से थोड़ी दूर पर दो गाँवों के मध्य एक अन्य भैरव सिद्ध महात्मा रहते थे। वह बड़े क्रूर स्वभाव के थे। आस-पास के रहने वाले सभी लोगों को उन्होंने अपनी शक्ति से तंग कर रखा था। भाई हरिहरानन्द जी ने उस महात्मा के विषय में सुन रखा था कि यह जनसाधारण को बहुत दु:ख देता है।

नर्मदा तट पर डेरा डाल देने पर श्री प्रभुजी ने हरिहरानन्द जी को आग लाने की आज्ञा दी। हरिहरानन्द जी को आग लाने की आज्ञा दी। हरिहरानन्द जी अनजाने में आग लेने उसी महात्मा के स्थान पर जा पहुँचे। भाई जी उस महात्मा की धूनी में से आग लेकर जब चलने लगे तब उस महात्मा के शिष्य ने कहा— अरे ब्रह्मचारी! यह तुमने क्या किया? मेरे गुरु की धूनी में से आग ले ली। अब तुम अपनी खैर मत समझो। मेरे गुरुदेव अभी स्नान करके आते ही होंगे। देखना वे तुम्हें कैसा घोर दण्ड देकर भेजते हैं? इतनी देर में वह महात्मा सामने से आते हुए दिखाई दिये। उनके एक हाथ में जल का लोटा था। भाईजी के हाथ में जल का लोटा था। भाईजी के हाथ में अग्नि देखते ही वह कोप में भरकर उनकी ओर बढ़े। भाईजी ने उन्हें क्रोधित देखकर उस महात्मा के हाथ में से जल का लोटा छीन लिया और उसके साथ ही साथ उसकी शाप देने की शक्ति भी छीन ली और तत्काल भागते हुए श्री प्रभुजी के चरणविन्दों में चले आये। पीछे-पीछे वह महात्मा जी भी रोते हुये पहुँचे। श्री प्रभुजी के चरणार्विन्दों में पहुँचकर वह महात्मा बहुत गिड़गिड़ाये— आपके इस ब्रह्मचारी ने मेरी वह सारी शक्ति छीन ली है जिसे मैंने वर्षों की साधना से प्राप्त किया था। वह मेरी जीवन भर की कमाई है। यदि आस-पास के लोगों को इस घटना का पता भी चल गया तो वे सब के सब मुझे जान से मार ही डालेंगे। अत: कृपाकर मेरी शक्ति मुझे लौटा दीजिये ताकि मैं जीवित रह सकूँ। महात्मा अभी इस प्रकार से कह ही रहे थे कि आस पास के बहुत से लोग वहाँ एकत्रित हो गये और श्री प्रभुजी से कहने लगे— महाराज! इस दुष्ट महात्मा ने लोगों को बड़ी हानियाँ पहुँचाई हैं। किसी की लड़की को अन्धा कर दिया किसी की पत्नी को मार दिया, किसी का वंशोच्छेद ही कर दिया— इस प्रकार महान् दु:ख दिये हैं। अत: कृपा करके इस महात्मा की शक्ति वापिस मत कीजियेगा। आप एक बार इस दुष्ट महात्मा को अपनी कुटी से बाहरकर दीजिये ताकि आज हम इसके ठीक-ठीक दर्शन कर लें। ज्यों-ज्यों लोग इस प्रकार की बातें कहते थे त्यों-त्यों वह महात्मा भय के कारण कुपित होता जाता था और बारम्बार हाथ जोड़कर श्री प्रभुजी से विनय करता था— करुणा सिन्धो! यदि आप मुझ शरण को शरण नहीं देंगे तो यह लोग मुझे अवश्य ही मार डालेंगे।

श्री प्रभुजी ने दोनों पक्षों की बात सुनी और गाँवों को इस प्रकार सान्त्वना दी— भाई, होनहार जो कुछ था वह हो चुका। अब तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी। साधु को मारना नहीं चाहिये, अत: तुम लोग इसे छोड़ दो। उधर उस महात्मा को इस प्रकार से समझाया— महात्मन् तुम्हारा स्वभाव कठोर है और तुम अपनी शक्ति का अहित-चिन्तन में दुरुपयोग करते थे। अत: तुम सिद्धि के पात्र नहीं हो। अत: तुम निर्जन वन में चले जाओ अपने पापों का प्रायश्चित करो। परमार्थ-लाभ के लिये तप करो।

श्री प्रभुजी के इस प्रकार समझाने पर वह महात्मा श्री प्रभुजी को प्रणाम करके वन में चले गये और गाँव वाले भी आश्वस्त होकर श्री प्रभुजी की जय-जयकार करते हुए अपने-अपने घरों को लौट गये। इस प्रकार श्री हरिहरानन्द जी श्री प्रभुजी के चरण कमलों में रहते हुए वनों में विचरण करते रहे।

अवधूत योगी अगड़धत्ता जी

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(अवधूत योगी अगड़घत्ता के योगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेव की तप-साधना के अपने प्रेरक संस्मरण भी।)

— सम्पादक

बाल्यकाल से मेरी प्रवृत्ति श्री वृन्दावनधाम के दर्शनों की अधिकाधिक रहा करती थी। अत: अपने अध्ययन-काल में भी यथासम्भव अवकाश मिलने पर मैं प्राय: श्री वृन्दावन जाता ही रहता था। अपने अध्ययन-काल में अमृतसर में रहते हुए भी मैंने एक बार एकान्तवास किया था। इस एकांतवास के समय मैंने एक बार एकान्तवास किया था। इस एकांतवास के समय मैंने अपनी दिनचर्या कुछ इस प्रकार थी— कुछ घण्टे मंत्र-जप किया करता था और उसके बाद थोड़ी देर ध्यानाभ्यास किया करता था और उसके बाद थोड़ी देर ध्यानाभ्यास किया करता था। तत्पश्चात् पुन: मंत्र-जप और फिर ध्यानाभ्यास। अपने अध्ययन-काल में मैंने उपनिषद् में एक श्लोक पढ़ा था जो इस प्रकार था :—

स्वाध्यायद्योगमासीतृ योगात् स्वाध्याय: मामनेत्।
स्वाध्याययोग—सम्पत्या, परमात्मा प्रकाशते।।

इसके अर्थ पर मैंने अपने मन में मनन किया और इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था। इसी के फलस्वरूप मंत्र-जप को स्वाध्याय और ध्यानाभ्यास को योग समझकर इस प्रकार का कार्यक्रम बनाकर निरन्तर अभ्यास करता रहा। स्वाध्याय और योग के फलस्वरूप मुझे आनन्दकन्द योगयोगेश्वर सद्गुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज के दर्शन ऋषिकेश में प्राप्त हुए। श्री प्रभुजी के दर्शनान्तर मेरे मन में विरक्ति के भाव कुछ अधिक मात्रा में विद्यमान रहने लगे। फलत: श्री वृन्दावनधाम का मेरा यातायात और अधिक मात्रा में बढ़ गया। श्री वृन्दावानधाम के के निवास-काल में मैंने कई एक अनुष्ठान किये और उन अनुष्ठानों के फलस्वरूप समय-समय पर अनेकों महात्माओं के दर्शन मुझे उस काल में होते रहे।

महात्माओं के दर्शन को मैं अपने स्वाध्याय एवं श्री-प्रभुजी की कृपा का फल समझता हूँ। जिन भी अनुभवी महात्माओं के दर्शन मैंने प्राप्त किये, उन सभी ने अपने मुखारविन्द से हमारे सद्गुरुदेव योगयोगश्वर श्री प्रभुजी की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की, दिव्य दृष्टि वाले अनुभवी महात्मा होते हैं, वे अपनी ध्यानशक्ति से किसी भी व्यक्ति की वास्तविकता जान जाया करते हैं। अत: वे कृपामय वास्तव में स्तुत्य हैं, त्रिभुवनवन्दित हैं, अपार शक्तियों के स्वामी हैं, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हैं, ऐसे श्री प्रभुजी की स्तुति कौन नहीं करेगा? जिसने भी उनकी वास्तविकता की जरा-सी भी झलक पाई है, उसी ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मुझे दर्शन देने वाले अनुभवी महात्माओं ने भी अन्त में यही कहकर अपने भाव व्यक्त किये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्व समर्थ प्रभु की असीम शक्ति का कौन वर्णन कर सकता है? तुम्हारे बहुत बड़े भाग्य हैं जो ऐसे महान् योगेश्वर सम्पन्न सम्पूर्ण शक्तियों के स्वामी श्री सद्गुरुदेव के रूप में तुम्हें प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार के महात्माओं में से एक विरक्त महात्मा का चरित्र मैं यहाँ दे रहा हूँ।

उन वीतराग महात्मा का नाम अवधूत योगी अगड़धत्ता है। अगड़धत्ता जी देखने में अनपढ़ से दिखाई देते थे, परन्तु अर्न्जगत में इनका बहुत ऊँचा प्रवेश था, यह मैंने भली प्रकार पहचान लिया था। इतनी उच्च स्थिति होते हुए भी यह बिल्कुल साधारण रूप से रहा करते थे।

साधुओं जैसा कोई आडम्बर उनके शरीर पर दिखाई नहीं देता था। उनका मुख मण्डल अत्यन्त तेजस्वी और दैदीप्यमान था। सिर की जटाएँ काफी श्वेत थीं। सारे तन पर तीन कम्बल वह लपेटे रहते थे। एक कटि-प्रदेश में अर्थात् धोती के समान लपेटते थे। दूसरा स्कन्ध प्रदेश में और तीसरा कंबल सिर पर माल की आकृति बनाकर ओढ़े रहते थे। किसी से भी किसी प्रकार की बातचीत नहीं किया करते थे। हर समय स्वयं मे ही विचार-मग्न से कहीं भी बैठे रहते थे। मेरा इनका प्रथम सम्पर्क बरसाने के गह्वर वन में हुआ था। हर समय इनके साथ रहा, परन्तु कभी भी इनको कुछ खाते नहीं देखा। कदाचित् इनके देदीप्यमान मुखमण्डल को देखकर कोई गृहस्थ इनसे खाने-पीने का अनुरोध भी करता, तो प्रथम तो कोई उत्तर ही नहीं देते थे। यदि बोले भी तो खाने-पीने का निमंत्रण अस्वीकार कर देते थे। फिर भी यदि दुराग्रह करने का कोई साहस करता तो बड़े कड़े शब्दों में ताड़ना देते थे— क्यों रे! तुझे यह क्या सूझी है? क्या तू हमें मारेगा?

उसके बाद श्री वृन्दावनधाम में अनेकों बार इनके साथ रहने का अवसर हुआ। उनके मुख से निकले उपर्युक्त शब्द मैंने कई बार सुने। एक दिन अवसर पाकर मैंने पूछा— महात्मा जी आप यह क्या कहा करते हैं? किसी व्यक्ति के द्वारा खिलाने-पिलाने का आग्रह किये जाने पर आप कह देते हैं— क्यों रे हमें क्या मारेगा? तो क्या खाने से ही मनुष्य मर जाया करता है? हमारी जिज्ञासा शान्त करने के लिए उन्होंने हमें समझाकर बतलाया— हाँ भाई, संसार में दो ही

प्रकार के व्यक्ति मरते हैं। जो खाता है वह मरता है और जो सोता है वह मरता है। जो संसार में आकर खाना-पीना और सोना त्याग देता है वह काल से परे हो जाता है। अर्थात् वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर हो जाता है। उस समय उनकी यह बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं परन्तु कालान्तर में ज्यों-ज्यों इस मार्ग में मेरा प्रवेश अधिक हुआ तब उन बातों की सार्थकता को मैंने समझा। वस्तुत: तत्व-विजयी ही महापुरुष हैं। जो खेचरी और भूचरी आदि मुद्राओं के ज्ञाता होते हैं वे लोग तक की वृत्ति निद्रा और स्थूल रूप से खाये जाने वाले आहार का बिलकुल परित्याग करते हैं और कालान्तर में अमरत्व को प्राप्त करते हैं। हिमालय में आज भी अनेकों तत्व-विजयी सिद्ध महात्मा सहस्रों वर्षों से बैठे हुए हैं, जो न तो कुछ खाते-पीते हैं और न सोते हैं और न हीं मल-मूत्र का परित्याग करते हैं। इसी प्रकार के महा पुरुषों की श्रेणी में हमारे यह अवधूत योगी अगड़धत्ता जी भी कहे जा सकते हैं।

इनके साथ रहकर मैंने इन अवधूत के कई अलौकिक कार्य देखे हैं। एक बार श्री वृन्दावन में श्री बांकेबिहारी जी के मन्दिर के एक चबूतरे पर श्री अगड़धत्ता जी और दूसरे पर हम लेटे हुए थे। श्री विहारी जी का मन्दिर एकान्त-स्थल पर नहीं है, प्रत्युत उसके दोनों ओर बाजार है। मन्दिर से थोड़ी दूरी पर किसी दुकान पर कोई रोगी दारुण दु:ख से चिल्ला रहा था। अवधूत योगीजी मुझसे कहने लगे ''अरे ब्रह्मचारी! इसका रोना बन्द कर दो। यह तो हमारी एकाग्रता में विघ्न डाल रहा है।'' हमने उनसे कहा महात्माजी! आप ही उसका रोना क्यों नहीं बन्द कर देते? मेरे ऐसा कहने पर उन्होंने वहीं से फूँक मार दी। उनके मुख से फेंकी गई वायु बिजली के समान चमक कर उस रोगी पर लगी और तत्काल ही वह शान्त होकर सो गया। उसे कोई भी कष्ट न रहा। प्रात:काल उस दूकानदार से पूछा गया कि उस रोगी को क्या कष्ट था? उसने बतलाया— इसको बहुत तीव्र उदर-पीड़ा थी, जिस कारण यह चिल्लाता था। परन्तु पता नहीं रात्रि को लगभग १२ बजे यह स्वत: ही बिलकुल ठीक हो गया और सो गया।

अवूधत योगी अगड़धत्ता जी विचित्र प्रकार के कार्य किया करते थे, जिनका रहस्य जल्दी समझ में नहीं आया करता था। एक बार उन्होंने श्री वृन्दावन के दुकानदारों से जल मांगना प्रारम्भ किया। वह प्रत्येक दुकानदार के पास जाकर कहते थे— क्यों रे! तेरे पास ठण्डा जल है? यदि वह व्यक्ति 'हाँ' कहता तो थोड़ा-सा जल पीकर चल देते थे और फिर अगली दुकान पर जाकर इसी प्रकार मांगा करते। इस प्रकार श्री वृन्दावन की अनेकों दुकानों से लेकर उन्होंने जल पिया। हर दुकान पर जल पीने के बाद कहते— नहीं, यह जल ठीक नहीं है। इस प्रकार कहते-कहते वे रेतिया बाजार में एक हलवाई की दुकान पर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही वह सदा की भाँति कहने लगे— क्यों रे, तेरी दुकान पर ठण्डा जल है? अन्य दुकानदारों की भाँति हलवाई ने महात्माजी की आवभगत न करके बड़े रुखे एवं कड़े शब्दों में नकारात्मक उत्तर देते हुए कहा— बड़ा आया कहीं से ठण्डा जल पीने वाला।

यह ताड़ना पाकर अवधूत योगी उस हलवाई से बोले— सारे वृन्दावन की दुकानों जल पीने का हमारा और कोई मतलब नहीं था। पीने का हमारा और कोई मतलब नहीं था। मैं तो तेरी ही दुकान का जल पीने आया था। तू कहता है कि हमारे जैसे बहुत देखे हैं, सो और कोई नहीं देखा होगा। आज बस हम ही दिखे हैं। तेरी दुकान खूब चलती है, तेरे पास पैसा भी काफी हो गया है। इसी कारण इतना अन्धा हो गया है कि तुझे कोई साधु महात्मा दीखता ही नहीं हैं। आज से तेरी दूकान में मक्खी ही मक्खी हो जायेंगी। फिर तुझे साधु-महात्मा सब दीख उठेंगे। आज से तुम्हें सब दिखलाई पड़ा करेगा। यह कहकर तुरन्त ही महात्माजी वहाँ से चले गये।

उस दिन के बाद मैंने स्वयं उस हलवाई की दुकान पर इन वचनों का प्रत्यक्ष प्रभाव आश्चर्यजनक रूप में देखा। दुकान में मक्खियों की ऐसी भरमार हो गई कि लगता था मानो सारे वृन्दावन की सारी मक्खियाँ इसी स्थान पर एकत्रित कर दी गई हों। महात्माजी के इस कथन के बाद उस हलवाई की स्थिति बिलकुल बिगड़ गई। लगभग एक या डेढ़ माह बाद जब हम वहीं से निकल रहे थे तो वह हलवाई कहने लगा— महाराज जी, उस दिन आपके साथ जो महात्मा थे, वे मेरी दुकान में मक्खी ही मक्खी हो जाने का शाप दे गये थे। उसी दिन से यहाँ मक्खियाँ ही भिनक रही हैं। प्रथम तो मेरी दुकान से कोई कुछ खरीदता ही नहीं है और यदि कदाचित कोई खरौद भी लेता है तो सौदे में मक्खियाँ देखकर वापस डाल जाता है। कृपा करके उनसे मुझे क्षमा दिलवाइये। मुझसे बड़ा अपराध हो गया जो क्रोध में आकर उनको मैंने कुछ अपशब्द कह दिये। श्रावण मास में हमेशा हजारों रुपये की आय इस दुकान से हो जाया करती थी, इस बार बिल्कुल खाली बैठे हैं। अन्य दुकानें धड़ाधड़ चल रही हैं, परन्तु महात्मा जी के शाप से हमारी यह दुर्दशा हो गई है, हमारे भाग्य फूट गये हैं। किसी प्रकार से कृपा करके उनसे क्षमा प्रदान करा दीजिए। जो कुछ भी उनकी आज्ञा होगी, मैं वही करने को तैयार हूँ। हमें उस पर बड़ी दया आई और हमने उसकी प्रार्थना पर योगी अगड़धत्ताजी से कहा— अब उस बेचारे को क्षमा कर दीजिए। परन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इन्कार करते हुए कहा— उसको क्षमा नही किया जा सकता। उसने अपने जीवन में बहुत से महात्माओं का अपमान किया है। उसके इस अपराध का दण्ड देने ही तो हम उसकी दुकान पर पहुँचे थे। दुकान-दुकान पर जल माँगने का हमारा प्रयोजन ही और क्या था?

कई मास और उसकी यही दुर्दशा रही। अन्त में एक बार वह अत्यन्त आर्त-भाव से अवधूतजी के चरणों में गिर पड़ा और गिड़ गिड़ाकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा। उसके बहुत विनय करने पर उन्हें कुछ दया आ गई और कह दिया— जा, अब क्षमा कर देता हूँ, दुबारा किसी साधु का अपमान मत करना। इसी समय जाकर १००/- गौशाला में दे आ। सुनते ही हलवाई में मानो जीवन सा गया। उसी दिन से उसकी दुकान में परिवर्तन आ आ गया। कहीं मक्खियों की भरमार न रही एवं शनै: शनै: वह दुकान पूर्ववत अपने विकास की स्थिति में पहुँच गई।

— क्रमश:

अवधूत योगी अगड़धत्ता जी

विशेष लेख :- योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

(अवधूत योगी अगड़धत्ता के बोगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की तप-साधना के उनके अपने प्रेरक संस्मरण भी।)

— सम्पादक

अवधूत योगी अड़गधत्ता जी कभी-कभी कुछ अभिमान की बातें भी करते थे। उनके मन में धारणा थी कि सृष्टि में जो कुछ भी हम करना चाहें, कर सकते हैं। सृष्टि का सृजन, पालन एवं विनाश का क्रम हमारे द्वारा ही चल रहा है। अत: वह किसी भी महात्मा, साधु आदि की विशेष परवाह नहीं किया करते थे। मेरे सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज का कई बार उनके सामने वर्णन आता था। परन्तु वे बड़े उपेक्षित ढंग से उसे सुनकर चुप रह जाया करते थे। एक दिन उन्होंने बड़े ही अहंकार से कहा— भाई ब्रह्मचारी, हम चाहें तो तुम्हारे गुरुजी को भी अभी यहाँ खींच लें। सुनकर पहले तो हम मौन रहे यह सोचकर कि बेचारे अवधूतजी हमारे प्रभुजी के स्वरूप को नहीं पहचानते हैं। वैसे हम समझते थे कि यह केवल उनका मिथ्या अहंकार ही है, परन्तु उनके बारम्बार उपर्युक्त शब्द दोहराने पर हमारे मन में भी कुछ तरंग-सी आई। श्री प्रभुजी की सर्वसमर्थता का स्मरण कर मन उल्लास से भर गया और मैंने भी उनसे कह दिया— आप में यदि शक्ति है तो मेरे गुरुदेव को खींचकर दिखला ही दीजिए। उन्होंने कहा— ''बोलो सूक्ष्म से या स्थूल से।' निरक्षर से दीखने वाले अवधूत के मुख से ऐसे शुद्ध हिन्दी के शब्दों को सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य सा हुआ। अपने आश्चर्य को दबाकर उनकी उस अभिमान-भरी उक्ति के उत्तर में हमने कह दिया— सूक्ष्म से क्या खींचना? स्थूल-रूप में ही खींचकर दिखाइये; जिससे सबको आकाश-मार्ग से आते दीख जायँ कि यह कोई किसी योगिराज की शक्ति से खिंचे चले आ रहे हैं। किन्तु स्थूल रूप से खींचने को वे राजी नहीं हुए और सूक्ष्म-आकर्षण पर ही विशेष जोर देने लगे। ''दुर्जनतोषो'' न्यायानुसार मैंने उनकी बात को ही स्वीकार करके कह दिया— अच्छा सूक्ष्म से ही सही। मेरा ऐसा कहने पर वह अवधूत जी सूक्ष्म-आकर्षण के लिए तैयार हो गये।

श्री वृन्दावन के केसी-घाट के सामने श्री यमुना जी की पवित्र बालुका में मैं और वह महात्मा दोनों ही ध्यानस्थ हो गये। वह प्रथम अवसर था जब कि उस गंवार जैसे दीखने वाले अवधूत को अपने सूक्ष्म-शरीर के चक्र बनाते मैंने देखा। योग-दर्शन में एक सूत्र आता है— **''निर्माणचित्तान्यस्मितामात्राद्''** अर्थात् अस्मितानुगत समाधि लगाने वाला योगी अपने अनेक चित्तों का निर्माण कर सकता है। वे सभी चित्त जिनको वह अपनी योगशक्ति से बनाता है, उसके प्रधान-चित्त के अधीन रहा करते हैं। वे सबके सब निर्माणित चित्त जहाँ-जहाँ जिस जिसके पास जाते हैं, अपने प्रधान-चित्त की प्रेरणा से सारे कार्य किया करते हैं। योगी अगड़धत्ता जी अपने निर्माणित चित्त के द्वारा ऋषिकेश चले। उनके साथ-साथ मेरा भी एक निर्माणित चित्त था जो उनकी वृति को देखता जाता था। ऋषिकेश आश्रम पहुँचने पर साक्षात् परब्रह्म आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के अखण्ड मण्डलाकार सर्व-व्यापक तेज के दर्शन कर अवधूत जी को श्री प्रभुजी के सम्मुख जाना बहुत कठिन हो गया। फिर भी यथातथा कुछ साहस के साथ वह आगे बढ़ ही गये और फारसी-भाषा में कुछ प्रश्न पूछे।

श्री प्रभुजी ने उनके सभी प्रश्नों के उत्तर भी फारसी भाषा में ही दिये। अन्त में जगत नियन्ता प्रभुजी ने उनको ताड़ना दी-लगाओ इसके पाँच जूते। यह हमें खींचने की इच्छा करता है। श्री प्रभुजी के मुखारविन्द से निकले ऐसे शब्दों को सुनकर वह अवधूत योगी वहाँ क्षण भर भी न ठहर सका। तत्काल ही श्री वृन्दावन आ गए। हमारा निर्माणित चित्त भी इनके साथ-साथ वृन्दावन आ गया।

चन्द्रमा की शीतल चाँदनी चारों ओर खिली हुई थी। श्री यमुनाजी की पवित्र बालुका में ध्यानस्थ बैठे महात्माजी अट्टहास करने लगे और यह कहते हुए ध्यान से उठे- ''अरे भाई, मरवा डाले होते। ''आज तो मरवा डाले होते।'' मैं भी ध्यान से उठ चुका था और श्री प्रभुजी की परात्पर शक्ति एवं इस अलौकिक लीला से हृदय आह्लादित हो रहा था। उसी लहर में मैंने उनसे कहा— महात्माजी, आप तो कहते थे कि हम तुम्हारे गुरुजी को खींच लेंगे। किन्तु यह क्या हुआ जो तुम स्वयं ही खींचे गये।

हमारे मुख से ऐसे शब्द सुनते ही वह बहुत बिगड़कर कहने लगे— हमने तुमसे यह कब कहा था कि हम महाप्रभुजी को खींच लेंगे। जो सारे विश्व को खींचते हैं उन्हें हम कैसे खींच सकते हैं? हमने तो समझा था कि होगा कोई सधुआ-अधुआ, उसे खींच ही लेंगे।

तुम्हें पहले ही बता देना चाहिए था कि वे सर्वशक्तिमान् महाप्रभुजी हैं। क्यों, तुमने यह बात हमें पहले ही क्यों नहीं बताई? इस प्रकार कहकर उल्टा हमें ही वह धमकाने लगे।

उपर्युक्त घटना के पश्चात् उन महात्मा जी की श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में अनन्य भक्ति हो गयी। कई बार नंगे पैरों वह ऋषिकेश श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ गये और अपने दु:साहस की बार-बार क्षमा याचना की। जब यह अवधूत जी श्री प्रभुजी के चरणों में पहुँचते थे, उस समय वीर मुद्रा में हाथ जोड़कर बैठ जाया करते थें श्री प्रभुजी इनको देख थोड़ा-सा मुस्करा जाया करते थे और तत्काल ही किसी आश्रमवासी भाई से कहकर प्रसाद दिला दिया करते थे। प्रसाद पाते ही अवधूत जी आश्रम से लौट आया करते थे।

इस घटना के बाद इन महात्माजी का व्यवहार मेरे प्रति बदल गया था और मुझे भी बहुत आदर की दृष्टि से वे देखने लगे थे। श्री वृन्दावन के जंगलों में, चौरासी कोस व्रजमण्डल के वनों में मैंने और उन्होंने एक साथ भ्रमण किया। नित्य भोजन का समय होने पर यह अपने मन से किसी भी व्यक्ति को कुछ खाद्य-पदार्थ लाने की प्रेरणा कर देते थे और मुख से स्पष्ट शब्दों में कहा करते थे— आज हमने फलां व्यक्ति को हुक्म कर दिया है। थोड़ी ही देर में वह व्यक्ति अमुक वस्तु लेकर उपस्थिति हो जायेगा और वास्तव में उनके कहने के थोड़ी देर बाद ही उनकी कही हुई वस्तु को लेकर वही व्यक्ति उपस्थित हो जाता था। उसके आने पर महात्मा जी बिलकुल विरक्त एक अनजान-भाव धारण किये रहते थे, किन्तु उससे कुछ नहीं कहते थे।

इस तरह आगन्तुक यह नहीं जान पाता था कि स्वयं महात्माजी की प्रेरणा से ही वह यह वस्तु लेकर आया है। मैंने महात्माजी से इसका कारण पूछा। आप इस तरह प्रेरणा करके जो भोजन मँगाया करते हैं, उसके घर पहुँचकर ही प्रसाद क्यों नहीं पा लिया करते? बात तो वही है। भोजन तो उसका ही करना है। तब इसका यह रहस्य उन्होंने बताया कि सांसारिक व्यक्तियों से कभी भी साधु को संपर्क स्थापित नहीं करना चाहिए। ये लोग तरह-तरह की कामनायें मन में रखकर ही साधुओं के दर्शन एवं उनकी किसी प्रकार की सेवा किया करते हैं। यह गृहस्थी लोग समझा करते हैं कि यदि महात्मा जी ने उनकी कोई भी सेवा स्वीकार कर ली है तो अवश्य हमारी कामना पूरी कर देंगे। बात साधु महात्मा के लिए उचित नहीं है।

एक दिन दोपहर को हम और यह महात्माजी राधाकुण्ड की ओर जा रहे थे। चलते-चलते दोपहर हो गई, लगभग १ बजने को हो गया। भोजन का समय प्राय: निकल चुका था। किन्तु वह अवधूत जी मुझसे पूछने लगे— क्यों ब्रह्माचारीजी, क्या भूख लगी है? मैंने कहा— हाँ महात्माजी, भूख तो लगी ही है। उन्होंने तत्काल कहा— अच्छा, अभी प्रबन्ध करते हैं। इस गाँव के पटवारी को हम हुक्म करते हैं। वह मालपुए और पूड़ी तैयार करके रखेगा। किन्तु बात उससे भी नहीं करनी है। इनके ऐसा कहने के बाद जब हम थोड़ा और आगे बढ़े तो गाँव के ठीक किनारे सड़क पर वह पटवारी खड़ा मिला। हम दोनों को देखते ही हाथ जोड़कर कहने लगा— महाराज, अभी थोड़ी देर पहले मेरे मन में सहसा यह भावना आई कि आज कोई महात्मा मिल जावें तो उनको अपने घर भोजन करा दूँ। बड़े भाग्य से आप दोनों आ गये हैं। कृपा करके घर चलकर भोजन कीजिए।

उसकी प्रार्थना पर जब हम उसके घर गये तो उसकी स्त्री छोटी कढ़ाई में मालपुआ उतार रही थी और पूड़ी, सब्जी तैयार कर चुकी थी। मैंने जाकर भोजन किया और थोड़ी देर में अगड़धत्ताजी भी आ गये। उन्होंने भी थोड़ा प्रसाद लिया। भोजनोपरांत गाँव के बाहर एक वट वृक्ष के नीचे विश्राम करके सायंकाल फिर राधाकुण्ड को चल दिये। हम इधर-उधर घूमते हुए रात के लगभग ११ बजे वहाँ पहुँचे। शहर के सब लोग सो चुके थे, कोई-कोई दुकान अब भी खुली हुई थी। योगी अड़गधत्ताजी पूछने लगे— ब्रह्मचारीजी, भूख तो लगी ही होगी। हमने कहा— हाँ भाई, भूख तो लगी ही है। तब महात्माजी कहने लगे— देखो ब्रह्मचारी यहाँ पर एक ब्राह्मण रहता है और वह हलवाई की दुकान करता है। आज तक उसने किसी साधु-महात्मा को कुछ नहीं खिलाया-पिलाया। हम अभी उसके सूक्ष्म को हुक्म करते हैं। थोड़ी ही देर में वह दो कुल्हड़ दूध लेकर आयेगा। हम तो उससे बात करेंगे नहीं, तुम दूध ले लेना। थोड़ी देर में अवधूत के कथानुसार ही घटना घटी। वह ब्राह्मण लगभग दो सेर दूध के दो कुल्हड़ लेकर राधाकुण्ड पर आया। उसने बहुत विनय-पूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना की— महाराज, मैंने आज तक किसी भी साधु-महात्मा को कुछ भी नहीं खिलाया-पिलाया है। आज अभी-अभी अकस्मात् दुकान पर बैठे-बैठे मेरे मन में यह भावना जागी— यदि कोई महात्मा मुझे मिल जावें, तो कम से कम आज उन्हें दूध तो पिला ही दूँ। बड़े भाग्य से आप दोनों मिलें हैं। कृपा करके इस दूध को ही लीजिए। हमने उसके हाथों से दोनों कुल्हड़ दूध ले लिया। उस ब्राह्मण के चले जाने के पश्चात् हम दोनों ने वह दूध पी लिया। दूध पीने के पश्चात् अवधूत योगीजी कहने लगे-देखों, हम उपदेश देते हैं कि यह गृहस्थी प्राणी सांसारिक कामनाओं को लेकर आते हैं। अत: इनसे बात नहीं करनी चाहिए। हमने स्वयं प्रेरणा करके इससे दूध मँगवाया था। अत: इसमें इस ब्राह्मण की कोई भावना या त्याग नहीं है।

इस घटना के बाद तो अवधूतजी के मन में श्री प्रभु के कृपामय चरणार्विन्दों के प्रति महती श्रद्धा का उदय हुआ। बारम्बार उनके चरणों की वन्दना व अर्चना करने लगे। ऊपरी तौर से चाहे वह कुछ भी शब्द कह देते थे, परन्तु वास्तविकता मन में समझते ही थे उसके बाद कभी-कभी प्रसंग आने पर वह महात्मा अपने मुख से कहा करते थे— भाई आनन्दकन्द कृपानिधि श्री प्रभुजी तो शुद्ध ब्रह्म हैं। उनकी शक्तियों का पार कौन पा सकता है? वे तो परात्पर हैं।

उनको वही जान सकेगा, जिसको वह स्वयं अपना ज्ञान देना चाहेंगे। इस प्रकार स्तुति करके वह महात्मा प्राय: गद्‌गद् कण्ठ होकर भाव विभोर हो उठते थे। कई बार ऋषिकेश जा जाकर इस महात्मा ने श्री प्रभुजी के दिव्य दर्शन प्राप्त कर मानसिक शान्ति प्राप्त की और कृतार्थ हुए।

सन्त-जनों के चरित्र को साधारण-जन समझ नहीं पाते हैं, एवं उनकी विचित्र लीलाओं पर शंका करने लग जाते हैं। जैसे कि एक बार गोपियों को शंका हो गई थी! योग-योगेश्वर भगवान् कृष्णजी ने उनसे कहा था— यदि मैं बाल-ब्रह्मचारी हूँ तो यमुनाजी तुम्हें पार जाने का मार्ग दे देगी। उसी प्रकार महर्षि दुर्वासा को भोजन कराने के पश्चात् जब गोपियाँ वापस चलने लगीं, तो दुर्वासा ने कहा था, यदि मैं जन्म का निराहारी हूँ, तो यमुनाजी तुम्हें मार्ग दे देगी। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर गोपियों को दोनों ही वचन असत्य लगे थे, परन्तु यमुनाजी के मार्ग दे देने पर विवश होकर विश्वास करना पड़ा था। उसी प्रकार अवधूत योगी अगड़धत्ताजी के चरित्र में भी विरोधाभास प्रतीत होता है। पहिले वास्तव में कभी भी मैंने उन्हें कुछ खाते-पीते नहीं देखा था, परन्तु बाद में भोजन करते, दूध पीते और वृक्षों के पत्ते खाते भी देखा था। यह उनकी क्या लीला थी, कहा नहीं जा सकता। कदाचित् वह मेरे सामने खाने-पीने का अभिनय करते हों, वास्तव में कुछ न खाते हों यह भी सम्भव हो सकता है। परन्तु यह निश्चय है कि वह पूर्ण विरक्त एवं योगानुभवी सन्त थे एवं तत्वों पर उनका पूर्ण अधिकार था।